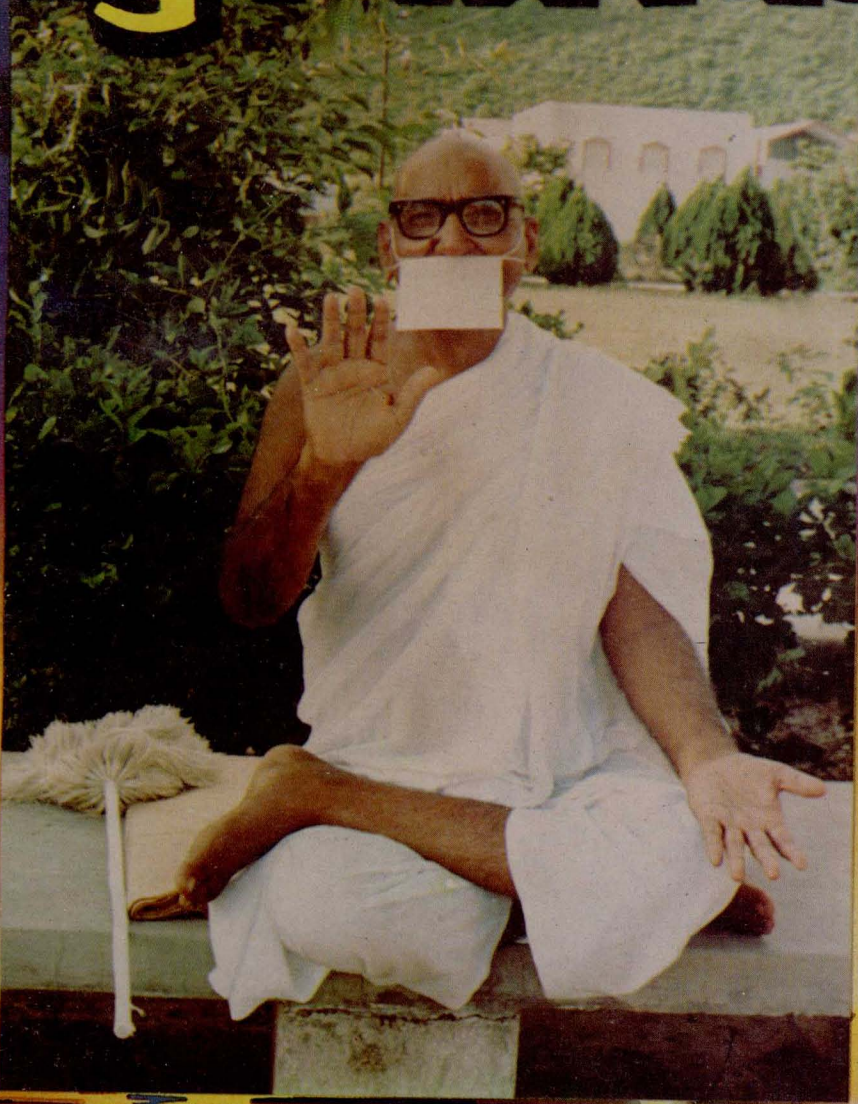


पर्युषण-प्रवचन



प्रवचनकार : राष्ट्र सन्त उपाध्याय अमर मुनि
सम्पादक : विजय मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न

प्रकाशक

श्री सठमति ज्ञानपीठ, आगरा

सन्मति-साहित्य रत्न-माला का पुष्प ८८

पर्युषण-प्रवचन

प्रवचनकार :

राष्ट्र-सन्त उपाध्याय अमर मुनि

सम्पादक :

विजय मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न

प्रकाशक :

श्रीसन्मति ज्ञान-पीठ, आगरा

पुस्तक :
पर्युष्य-प्रवचन

प्रवचनकार :
उपाध्याय अमरमुनि

सम्पादक :
विजय मुनि, शास्त्री

प्रथम प्रवेश :
सन् १९६४, १५ अगस्त

द्वितीय प्रवेश :
सन् १९६४

मूल्य :
चालीस रुपये पचास पैसे

प्रकाशक :
सन्मति ज्ञान-पीठ, आगरा

मुद्रक :
रतन आर्ट्स
ब्लॉक नं० २६, तृतीय मंजिल,
संजय प्लेस, आगरा
९१९६२

पुस्तक सज्जा :
सुशेखा लॉजिक सिस्टम्स,
२०० जयपुर हाउस कॉलोनी,
आगरा
९२६५७३



श्रीयुक्त बिशन कुमार जी सुपुत्र स्व. श्री रतन लाल जी तथा
श्रीमती लाड़ बाई जी चपलावत तथा पुत्र-वधू
श्रीमती सरला जी ने पर्युषण पर्व पुस्तक का सहर्ष
आशन कराया।

सोहवार १५-१४

सिद्धार्थ भवन
तोता का ताल, आगरा।

द्वितीय संस्करण की भूमिका

पर्युषण पर्व जैन परम्परा का चिरपरिचित एवं सर्व परिचित एक महापर्व माना गया है । यह कब से माना गया है ? इस प्रश्न का समाधान दो प्रकार से किया गया है । एक समाधान है, कि अनादि काल से क्योंकि जैन धर्म आनादि काल से है, वह सनातन है । यह एक पौराणिक मन्तव्य एवं मान्यता है । इतिहासकारों का कथन है, कि भगवान् महावीर से इसका प्रारम्भ हुआ, जो आज तक चल रहा है ।

पर्युषण पर्व के परम पावन अष्ट दिवसों में उपभोग्य वस्तुओं का अधिक से अधिक त्याग करने की परम्परा रही है । प्रवृत्ति मार्ग से हटकर निवृत्ति मार्ग पर चलने का संकल्प किया जाता है । उत्साह एवं उमंग के साथ व्रत-उपवास करते हैं । संयम-नियमों का दृढ़ता से परिपालन करते हैं । विशेषकर के इन पावन दिनों में आबाल-वृद्ध तथा नर-नारी हजारों की संख्या में शास्त्र-श्रवण एवं शास्त्र-वाचन करते हैं । स्वाध्याय करते हैं । ध्यान-योग की साधना करते हैं । परस्पर मिलकर धर्म एवं ज्ञान की चर्चा करते हैं । श्रावक तथा श्राविका यथाशक्ति दान करते हैं । इन अष्ट दिनों में दान और दया का विशेष महत्त्व है ।

पर्युषण प्रवचन का सुन्दर प्रकाशन करके अपने प्रिय पाठकों के कर-कमलों में समर्पित करते हुए महान् हर्ष होता है । प्रस्तुत पुस्तक में अन्तकृतदशांग सूत्र पर दिए गए स्वतन्त्र प्रवचनों का संकलन एवं सम्पादन किया गया है । इसमें कलकत्ता, आगरा, अलवर और जयपुर के प्रवचनों का संग्रह किया गया है । अतएव यत्र-तत्र प्रवचनों में पुनरुक्ति का आभास अध्येताओं को मिल सकता है । परन्तु जहाँ तक हो सका है, पुनरुक्ति से बचने का प्रयत्न किया है । यह ध्यान में रखने योग्य है, कि श्वेताम्बर परम्परा के तीनों पक्षों में पर्युषण पर्व अष्ट दिवसों में दो सूत्रों की वाचना की परम्परा रही है-अन्तकृत दशांग और कल्प-सूत्र । दिगम्बरों में यह परम्परा नहीं है ।

अध्यात्म पर्व पर्युषण के शुभ अवसर पर पाठक गण यदि इससे लाभान्वित हुए, तो हमारा यह परिश्रम सफल होगा । सुदूर प्रान्तों के जिन क्षेत्रों में साधु-साध्वी नहीं पहुँच पाते अथवा जिन क्षेत्रों में वर्षावास नहीं हुआ है, वहाँ के धर्म प्रेमी और स्वाध्याय प्रेमी लोगों के लिए यह प्रकाशन बहुत ही उपयोगी एवं फलवान् सिद्ध होगा । व्याख्यानदाता साधु वर्ग एवं साध्वी वर्ग को भी इस प्रकाशन से पर्याप्त लाभ होगा । अतएव पर्युषण प्रवचन का वर्षों बाद पुनः प्रकाशन किया जा रहा है ।

प्रस्तुत पुस्तक का प्रथम प्रकाशन सन् १९६४, १५ अगस्त को सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा से हुआ था । प्रस्तुत पुस्तक का द्वितीय संस्करण प्रकाशित हो रहा है । काफी समय से यह पुस्तक अनुपलब्ध थी । इधर पाठकों की माँग बढ़ती जा रही थी । इसका यह द्वितीय संस्करण पहले की अपेक्षा भी अधिक सुन्दर तथा अधिक आकर्षक बन गया है । इसका सम्पूर्ण श्रेय रतन आर्ट्स के प्रो० श्री संजय चपलावत

को जाता है । उसने काफी परिश्रम करके इस द्वितीय संस्करण को सुन्दर एवं आकर्षक बनाने में सफलता प्राप्त की है ।

द्वितीय संस्करण के पुनः प्रकाशन का श्रेय श्रीयुत बिशन कुमार जी चपलावत को दिया जाना चाहिए । क्योंकि उन्होंने अपने स्वर्गीय पूज्य पिता रतनलाल जी चपलावत एवं अपनी स्वर्गीय माता श्री लाड़बाई जी चपलावत की पुण्यमयी स्मृति में कराया है । श्रीमान् रतन लालजी तथा श्रीमती लाड़बाई चपलावत जी अत्यन्त धर्मप्रिय और परम गुरु भक्त थे । वैसे ही सुन्दर संस्कार, धर्मप्रिय बिशन कुमार जी में भी दृष्टिगोचर होते हैं । इस द्वितीय संस्करण के प्रकाशन का सम्पूर्ण दायित्व आर्थिक एवं भावनात्मक श्री बिशन कुमार जी चपलावत तथा उनकी धर्मपत्नी श्रीमती सरला देवी जी चपलावत ने लेकर सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा को चिन्ता-मुक्त किया है ।

मेरे दादागुरु पूज्य प्रवर पृथ्वी चन्द्रजी जी म० और मेरे गुरुदेव राष्ट्र सन्त उपाध्याय कवि रत्न अमर चन्द्र जी म० वर्षों तक आगरा में रहे थे । दोनों की सेवा का भरपूर लाभ श्रीयुत बिशन कुमार जी चपलावत ने लिया था, और अब मेरी सेवा का लाभ ले रहे हैं । कितना सुन्दर संयोग मिला, बिशन कुमार जी को ? निरन्तर तीन पीढ़ियों की सेवा करने का शुभ योग मिलना आसान काम नहीं है । पूज्य श्री जी के विशेष भक्तों में बिशन कुमार जी चपलावत का विशेष स्थान रहा है । साथ में धर्मपत्नी सरला देवी जी चपलावत तथा उनकी प्रियपुत्री श्रीमती नीलम नाहर ने भी सेवा का लाभ प्राप्त किया है ।

पर्युषण प्रवचन के द्वितीय संस्करण के प्रकाशन का पूरा दायित्व सहर्ष आपने उठाया है । यह उनकी गुरु-भक्ति का प्रबल प्रमाण है । चपलावत जी ने गुरुदेव की समाधि के निर्माण में भी पूरा योगदान किया है । मैं श्रीयुत बिशन कुमार जी चपलावत तथा श्रीमती सरला जी चपलावत को बहुशः साधुवाद देता हूँ, कि उन्होंने सहर्ष प्रस्तुत पुस्तक का सुन्दर प्रकाशन कराया है ।

विजय मुनि शास्त्री
जैन भवन, मोती कटरा आगरा

५-५-१९६४

सम्पादकीय

विश्व-कवि खलील जिब्रान अपनी एक कविता में कहता है, कि :

“And you shall hear from us only that which you hear from yourself.”

(तुम मुझसे वही बात सुनोगे, जो कुछ तुम अपने अन्दर से सुना करते हो ।)

कवि जी भी अपने श्रोताओं से कभी-कभी यही बात कहते थे, कि मेरे पास सुनाने के लिए नया कुछ भी नहीं है । फिर भी लोग कवि जी को सुनना क्यों पसन्द करते थे ? उनकी वाणी में ऐसा क्या जादू है ? कवि जी को सुनने के लिए लोग दूर-दूर से क्यों आते हैं ? बात पुरानी हो अथवा नयी । किन्तु सुनाने की कला उसमें जादू पैदा कर देती है, सुनने वाले को मुग्ध कर देती है । कवि जी के प्रवचनों में कुछ ऐसा ही प्रभाव और चमत्कार मिलता है, कि सामान्य बात को भी वे बड़े विलक्षण ढंग से और अपनी अद्भुत शैली में अभिव्यक्त करते हैं । उनकी प्रवचन शैली का चमत्कार यह है, कि गम्भीर से गम्भीर सिद्धान्त भी सुगम और सुबोध्य बन जाता है । कवि जी महाराज के प्रवचनों की भाषा सरल होते हुए भी अलंकृत, प्राञ्जल और मधुर होती है । प्रत्येक वाक्य अपने आप में एक सुभाषित और सूक्ति का काम करता है । उनकी भाषा कभी भी उनके विचारों के अधेता के मस्तिष्क पर भार नहीं बनती । उनकी भाषा का प्रवाह तूफानी नदी के समान वेगवान् होकर भी संयत मर्यादित और गम्भीर रहता है ।

एक दार्शनिक ने कहा है : The great men die but their priceless speeches, words, sayings and writings live in the world like spirits. Their words like the sun can be felt all over the world.

व्यक्ति अमर नहीं रहता, परन्तु उसके विचार कभी नहीं मरते । वर्तमान युग को वे प्रेरणा देते हैं और भावी युग को आशा का मधुर सन्देश देते हैं । महापुरुषों की वाणी के प्रत्येक वाक्य में और उसके प्रत्येक शब्द में नव विचारों की ज्योति का आलोक भरा रहता है । न जाने, कब और किस समय किस व्यक्ति को उनकी वाणी से प्रेरणा मिल जाए । न जाने, किस प्रसुप्त आत्मा को जागरण मिल जाए । न जाने, किस हताश व्यक्ति को आशा का नव आलोक मिल जाए । कवि श्री जी की Speeches में भी अगणित व्यक्तियों को प्रेरणा, स्फूर्ति, आशा और जागृति मिली है । उनके भाषण, प्रवचन और Speech से समाज ने अमित लाभ उपलब्ध किया है । उनके प्रवचनों से समाज में से अन्ध-विश्वास, रूढ़िवाद और विचारों की जड़ता काफ़ी हद तक दूर हुई है । साध्वी और साधुओं में आज जो नया विचार, नया कर्म और नयी वाणी दृष्टिगोचर हो रही है, उसका अधिकांश श्रेय कवि जी महाराज के उर्वर साहित्य को ही दिया जा सकता है । इस दृष्टिकोण से वे अपने युग के विधाता हैं, अपने युग के अधिनेता हैं, और अपने युग के नव-जागरण के अधिचेता हैं । भारत के सुदूर प्रान्तों में उनकी अमर-भारती मुखरित हुई है और हो रही

है । आज का समाज सरस्वती के इस वरद पुत्र को पाकर अपने आप को सौभाग्यशाली समझता है । समाज ने उनके स्वस्थ दृष्टिकोण को अपना लिया है ।

सम्मेलनों के प्रांगण में नर, नारी और बाल एवं वृद्धों ने कवि जी के विचारों को और उनकी युगस्पर्शी वाणी को जी-भर कर सुना है, और चिन्तन-मनन के बाद उसका आचरण करना भी सीखा है । अजमेर सम्मेलन में तथा उससे पूर्व सादड़ी, सोजत और भीनासर सम्मेलन में, रूढ़ और अन्ध-परम्परा के भक्त, कवि जी की नयी विचार-धारा के सम्मुख आत्म-समर्पण कर चुके हैं । उनके नेता और त्राताओं की एक भी युक्ति कवि जी के प्रवीण तर्कों के सम्मुख खड़ी नहीं रह सकी । यही कवि जी के व्यक्तित्व का सबसे बड़ा प्रभावक चमत्कार है । एक के बाद एक होने वाले सम्मेलनों में उनकी सफलता की सिद्धि का यह एक प्रबल प्रमाण है, कि नया और पुराना—दोनों ही मानस कवि जी के व्यक्तित्व पर समान भाव से श्रद्धा, आस्था और निष्ठा रखते हैं और जमात की अस्मत् को अपने रहनुमा के हाथों में सौंप कर बेफिक्र हैं । कवि जी के व्यक्तित्व का सबसे बड़ा जादू यही है, चमत्कार यही है ।

कवि श्री जी के क्रान्तिकारी विचारों की आलोचना थोड़ी नहीं, बहुत हो चुकी है । आलोचना करने वाले आलोचक अपना भान भी भूल जाते हैं, और वे विचारों की आलोचना करते-करते कभी-कभी द्वेष और घृणा की आग भी उगलने लगते हैं । परन्तु कवि श्री जी कभी भी अपना Balance नहीं खोते । वे विश्व-कवि खलील जिब्रान की भाषा में अपने आलोचकों से मधुर-स्वर में कहते हैं :

You understand us not, but we offer our sympathy to you.

(तुम मुझे समझ नहीं सके, फिर भी मैं अपनी सहानुभूति तुम्हें अर्पित करता हूँ ।)

कवि श्री जी आशावादी हैं—अपने व्यक्तिगत जीवन में भी और समाज-सुधार में भी । अपने जीवन की धरती पर उन्होंने कभी निराशा के बीजों को अंकुरित नहीं होने दिया । वे आशा-भरे स्वर में कहते हैं—“शान्त रहो, अंधेरी रात का अन्त होने पर उजला प्रभात अवश्य ही आएगा । जिसने धैर्य के साथ प्रतीक्षा की है, उसे प्रकाश अवश्य मिलेगा । आशा के प्रकाश को जो प्यार करता है, प्रकाश भी अवश्य ही उसे प्यार करेगा ।”

“Be silent, until Dawn comes, for he who patiently awaits the morn will meet him surely, and he who loves the light, will be loved by the light.”

प्रस्तुत पुस्तक “पर्युषण-प्रवचन” में उनके पर्युषण-पर्व के विचारों का संकलन और सम्पादन मैंने किया है । इसमें जयपुर, कुचेरा, व्यावर, अलवर और कलकत्ता के प्रवचनों का सार संकलन है । अतः कहीं-कहीं पर पुनरुक्ति का आभास भी पाठकों को मिल सकता है । परन्तु प्रवक्ता के स्वतन्त्र चिन्तन को सर्वत्र अक्षुण्ण रखने का प्रयत्न किया गया है ।

मानपाड़ा, आगारा

१५ जून, १९६४

विजय मुनि

सूचिका

पर्युषण-प्रवचन	
पर्युषण-पर्व	३
हमारे प्रेरणा-स्रोत : इतिहास के उज्वल पृष्ठ	१५
पर्युषण पर्व की आराधना	२७
वैराग्य मूर्ति : गौतमकुमार	३७
क्रान्तिकारी महापुरुष : श्रीकृष्ण	५०
कर्मयोगी श्रीकृष्ण	६४
समभावी साधक : गज सुकुमार	७७
अतिमुक्तक की मुक्ति	६०
अतिमुक्त कुमार	१०१
सुदर्शन का अभय-दर्शन	११३
नारी-जीवन	१२३
मार्ग और मंजिल	१३२
पर्वों का सन्देश	१४१
विविध-भारती	
अध्यात्म-साधना	१५३
आत्मा और परमात्मा	१५८
धर्म का मूल : विनय	१६३
समत्व-योग	१७१
आवश्यकता और तृष्णा	१७६

As we sow, so we reap

*Good actions lead to a good
character, bad actions lead
to a bad character.*

A man becomes

*Good by good deeds and
bad by bad deeds.*

Wealth, health and character

*When wealth is lost,
nothing is lost.*

*When health is lost,
something is lost.*

*When character is lost,
all is lost.*

पर्युषण-प्रवचन

पर्युषण-पर्व

उत्थान और पतन

मनुष्य के जीवन का उत्थान और पतन कहीं बाहर से नहीं, उसके अन्दर से ही होता है । मनुष्य है क्या ? क्या वह एक मिट्टी का पिण्डमात्र ही है ? क्या वह मांस और अस्थि का एक ढाँचा मात्र ही है ? नहीं, ऐसा कभी नहीं हो सकता । मनुष्य में जो कुछ बाहरी रंग-रूप है, वह तो उसका भौतिक रूप है । उसकी इस भौतिकता में ही उसकी दिव्यता का निवास है । मनुष्य-जीवन का गम्भीर अनुशीलन करने से आप यह भली-भाँति जान सकेंगे कि उसके जीवन के दो रूप हैं—“‘मर्त्य-भाग’ और ‘अमृत-भाग’।” भौतिक रूप और आध्यात्मिक रूप । जो कुछ आप देख रहे हैं, वह मनुष्य का ‘मर्त्य-भाग’ है, भौतिक रूप है, वह तो एक पुद्गल पिण्ड है । उस पुद्गल पिण्ड के भीतर मनुष्य के ‘अमृत-भाग’ की सत्ता विद्यमान है, जिसे आप इन चर्ममय नेत्रों से नहीं देख सकते । उसके संदर्शन के लिए दिव्य नेत्र की आवश्यकता है । दिव्य-वस्तु का साक्षात्कार दिव्य नेत्रों से ही करना चाहिए । सन्त आनन्दघन कहते हैं :

“चर्म-नयन थी मारग जोवतां रे,
भूत्यो सकल संसार ।
जे नयने करी मारग जोइए रे,
नयन ते दिव्य विचार ॥”

अरे मनुष्य ! तू प्रभु के दर्शन की प्रतीक्षा कर रहा है ? तू मार्ग में खड़ा प्रभु की राह निहार रहा है ? तू स्वयं भगवान बनने के प्रयत्न में है। अच्छी, बहुत अच्छी है—तेरी यह भावना । परन्तु इन चर्ममय नेत्रों से प्रभु के दर्शन करने का प्रयत्न तो तूने आज से नहीं, अनन्त काल से किया है । सच बतला, क्या तुझे सफलता मिली ? अरे भोले भाई ! यह तेरी भूल है । और तू ही क्या ? यह समस्त संसार ही माया की भूल-भुलैया में भूला-भूला-सा फिर रहा है—अनन्त-अनन्त काल से । ‘क्यों’ ? आपका प्रश्न गम्भीर और समुचित है । आपके ‘क्यों’ का समाधान सन्त आनन्दघन ने दे दिया है । जिस नयन से प्रभु

की खोज आपको करनी चाहिए थी, जिस नयन से आपको अपने 'अमृत-भाग' का अनुसंधान करना चाहिए था, वह आप न कर सके। वह 'नयन' क्या है? सन्त कहता है—मनुष्य के मन का 'दिव्य-विचार' ही वह 'नयन' है, जिससे प्रभु की दिव्यता को, आत्मा के भव्य स्वरूप को आप देख सकते हैं—जान सकते हैं। आत्मा को, अपने स्वरूप को देखा नहीं जाता, जाना जाता है। और यह आत्मा? जिसे आप जानना चाहते हैं।

शिष्य ने अपने गुरु से पूछा—गुरुदेव! वह कौन-सा तत्त्व है, जिस एक के जान लेने पर सब कुछ जाना जा सकता है? "कस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति।" गुरु ने कहा—“वत्स! वह तत्त्व, आत्मा है।” गुरु ने फिर आगे कहा—“आत्मा वारे श्रोतव्यः, आत्मा वारे मन्तव्यः, आत्मा वारे निदिध्यासितव्यः।” अरे! सब कुछ छोड़कर, इस आत्मा को ही सुन, इसी का मनन कर, और इसी का निदिध्यासन-अनुभवन कर! यही है, वह परम ज्योति परमात्मा, जिसे तू खोज रहा है।

मैं आप लोगों से कह रहा था, कि मनुष्य-जीवन के दो रूप हैं—“मर्त्य और अमृत।” शरीर, इन्द्रिय और मन—यह सब मर्त्य है, परन्तु इन सब से परे जो चेतनामय तत्त्व है, वही अमृत है। उसका दर्शन चर्म-नेत्रों से नहीं, दिव्य-नयनों से करो। इसी में जीवन का उत्थान है। इसी में जीवन का विकास है। यही है, मनुष्य जीवन का सच्चा संलक्ष्य। साधना करो, इसे साध सकोगे?

इस पुद्गलमय देह में प्रसुप्त अमृत-तत्त्व को जागृत करने के लिए बस, एक ही मार्ग है—‘विचार को आचार में परिणत होने दो।’ बीज अंकुर में बदल कर वृक्ष बन जाता है। तभी उसमें फल-फूल पैदा होते हैं। विचार, जब आचार में बदल जाता है, तब उसमें से ज्योति प्रकट हो जाती है। मनुष्य का जीवन क्या है? उसके विचारों का प्रतिफल। जैसा वह सोचता है, वैसा वह बन जाता है—“As a man thinks in his heart, so he is.”

यूरोप का विख्यात दार्शनिक 'इमरसन' कहता है :

“Allow the thought it may lead to choice.

Allow the choice it may lead to an act.

Allow the act it may form the habit

Continue the habit it shapes your character.

Continue the character it shapes your destiny.”

“अपने विचार को स्वतन्त्रता दीजिए, वह अच्छा बन जाएगा । इच्छा को स्वतन्त्रता दीजिए वह कार्य बन जायेगी । कार्य, आदत बन जाता है । धीरे-धीरे वह आदत ही आचार बन जाती है । और यह आचार ही मनुष्य के जीवन का निर्माण करता है ।” अतः आप अपने मन में सदा शुभ विचार ही करो, जिससे आपका आचार पवित्र बन सके । अशुभ विचार से तो अनाचार पैदा होगा । अपने मन में वैर के काँटे बोक़र प्रेम के फूल की आशा करना व्यर्थ है । चित्त के विकारों को शान्त कीजिए, यही शान्ति का राज-मार्ग है । अपने जीवन का उत्थान और पतन आपके अपने हाथ में ही है । इसी दिव्य सन्देश को लेकर पवित्र पर्व ‘पर्युषण’ आपके जीवन के द्वार पर आया है ।

पर्व पर्युषण आया

आज की शुभ वेला में पवित्र पर्व ‘पर्युषण’ आपके जीवन में प्रवेश कर रहा है । पूरे एक वर्ष के बाद यह आपको जगाने आया है । अष्ट-दिवसीय इस पवित्र पर्व का आज प्रथम दिवस है । इस वर्ष में आपने क्या पाया, कितना खोया ? यह सब जाँचने और परखने का यह शुभ अवसर है । श्रमण-संस्कृति का यह एक विशिष्ट पर्व है । श्रमण-संस्कृति और श्रमण-विचारधारा में इस पर्व का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है । ‘पर्व’ शब्द का अर्थ है—परम पवित्र दिवस । वैसे तो जीवन का प्रत्येक दिवस पवित्र होता है, परन्तु आज का दिवस तो विशेष रूप से पवित्र है । पर्व दो प्रकार के होते हैं—“लौकिक और लोकोत्तर ।” लौकिक पर्व का अर्थ होता है—हर्ष, उल्लास और आमोद-प्रमोद । वह शरीर की सीमाओं में ही बन्द रहता है । शरीर में स्थित चेतनामय ज्योति तक वह नहीं पहुँच पाता । लौकिक पर्व मनुष्य के शरीर का ही पोषण करता है, उसके मन और आत्मा का नहीं । इसके विपरीत लोकोत्तर पर्व शरीर की सीमाओं से ऊपर ज्योतिर्मय चेतना के दिव्य-लोक में पहुँच कर मनुष्य को आत्म-रत, आत्म-संलग्न और आत्म-प्रिय बनाता है । इसमें शरीर का शोषण भले ही हो, परन्तु आत्मा का पोषण ही होता है । शरीर को भोजन भले ही न मिले, किन्तु आत्मा को तो तप, त्याग, संयम, वैराग्य और विवेक का भोजन मिलता ही है । शरीर का

आधार भौतिक है । अतः उसका भोजन भी भौतिक पदार्थों का ही होता है । पर, आत्मा तो एक दिव्य शक्ति है । अतः उसका भोजन भी दिव्य एवं अमृतमय होता है । इन पर्व-दिवसों में आप लोग भौतिक भोजन छोड़कर आध्यात्मिक भोजन करते हैं, जिससे आपके चित्त को, आत्मा को पुष्टि एवं तुष्टि मिलती है—यही लोकोत्तर पर्व की मूल-भावना है ।

‘पर्युषण’ शब्द ‘परि’ उपसर्ग पूर्वक ‘वस्’ धातु से ‘अन’ प्रत्यय लग कर बना है । ‘पर्युषण’ का अर्थ है—‘आत्मा के समीप में रहना ।’ अनन्त काल से आत्मा मिथ्यात्व में, मोह में और अज्ञान में रहता आया है । वह अपने स्वभाव को भूल कर विभाव को ही अपना निज स्वरूप मानता रहा है । यही कारण है, कि वह अपने दुःख, क्लेश और पीड़ाओं का ही अन्त नहीं कर सका है । पूरे एक वर्ष के बाद फिर वह शुभ अवसर आया है, कि आप लोग अपने जीवन को भौतिकता से अध्यात्म की ओर ले जाएँ, मिथ्यात्व से सम्यक्त्व की ओर ले जाएँ, ममता से समता की ओर ले जाएँ, अज्ञान से सम्यग्ज्ञान की ओर ले जाएँ और विभाव-दशा से स्वभाव-दशा की ओर ले जाएँ । पर्युषण पर्व हृदय-शुद्धि, चित्त-शुद्धि और आत्म-शुद्धि का परम पवित्र पर्व है । आप क्या हैं ? आप कौन हैं ? यह जाँचने और परखने का ही यह मंगलमय पर्व है । इन पवित्र दिवसों में साधक सोचता है :

“कितनी त्याग सका पर-निन्दा,

कितना अपना अन्तर देखा ।

कितना रख पाया हूँ अब तक;

अपने पाप-पुण्य का लेखा ॥

गगन में मेघ-गर्जना होने पर जैसे मयूर नाच उठता है, सरोवर में कमल खिल उठने पर जैसे भ्रमर गुँजार करने लगता है और रसाल-मञ्जरी आने पर जैसे कोकिल गूँज उठती है, वैसे ही अध्यात्म-साधक पर्युषण-पर्व आने पर मुखरित होकर मधुर स्वर से गाने लगता है :

लोभ मोह मद कितना छोड़ा,

नाता काम क्रोध से तोड़ा ।

विषय-वासनाओं से हटकर;

कितना प्रेम प्रभु से जोड़ा ॥

जीवन का क्या अर्थ यहाँ है,

क्यों कञ्चन-सा तन पाया है ?

क्या इसको तुम समझ सके हो;

क्यों नर भूतल पर आया है ॥

—मानव

पर्युषण पर्व में क्या करना चाहिए ? यह प्रश्न आप लोगों में से बहुत-सों के मन में उठता होगा ! और मेरे विचार में इस प्रकार का प्रश्न जागृत मन में ही उठ सकता है । प्रसुप्त मन में कभी प्रश्न उठता ही नहीं है । इस विशिष्ट पर्व के मधुर क्षणों में सब से पहले भावना संशुद्धि पर ही ध्यान देना चाहिए । क्योंकि भावना संशुद्धि पर ही हमारे जीवन की संशुद्धि आधारित है । भावना की संशुद्धि किस प्रकार से हो ? इस विषय में 'अध्यात्म कल्पद्रुम' में कहा गया है —

“पर - हित - चिन्ता मैत्री,

पर - दुःख - विनाशिनी करुणा ।

पर - सुख - तुष्टि मुदिता;

पर - दोषोपेक्षणमुपेक्षा ॥”

भावनाएँ चार हैं—मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा । मैंने अभी आपसे कहा था, कि मनुष्य के जीवन में उत्थान और पतन मनुष्य के अपने विचारों पर ही आधारित है । चित्त-शुद्धि के लिए विचार-शुद्धि आवश्यक है । विचार-शुद्धि का प्रशस्त मार्ग ही इस भावनायोग में आचार्य ने बताया है । सबसे पहली भावना है, मैत्री-भावना । मैत्री क्या है ? संसार के समस्त जीवों के प्रति मित्रता रखना । अपने स्वार्थ को छोड़कर परार्थ का विचार करते रहना ही वस्तुतः मैत्री-भावना है । दूसरी भावना है—करुणा-भावना । संसार के दीन-हीन और दुःखी जीवों के दुःखों को दूर करने की भावना को 'करुणा' अथवा 'दया' कहते हैं । संसार के सुखी जीवों के सुखों को देखकर ईर्ष्या न करके प्रसन्नता व्यक्त करना ही 'मुदिता-भावना' है । दूसरों के दोषों की ओर ध्यान न देना ही 'उपेक्षा-भावना' है । इन चार भावनाओं के चिन्तन एवं मनन से चित्त के विचार—द्वेष, क्रूरता, ईर्ष्या और दोष-दृष्टि नष्ट हो जाते हैं । अतः इन पर्व-दिवसों में

‘भावना-योग’ की साधना पर विशेष बल देना चाहिए । भावना-शुद्धि से ही पर्व की अराधना सम्यक् प्रकार से होगी ।

जीवन की परिभाषा

जीवन की परिभाषा करते हुए एक दार्शनिक ने जीवन के तीन प्रकार बताए हैं—आसुरी-जीवन, दैवी-जीवन और अध्यात्म-जीवन । जो जीवन भोग, विलास और काम-तृष्णा पर आधारित होता है, उसे ‘आसुरी-जीवन’ कहते हैं । भोगवादी जीवन-आसुरी जीवन है । इसके मूल में इच्छा, कामना और वासना रहती है । इच्छा की प्यास, एक ऐसी प्यास है, जो कभी बुझती नहीं है । सिसरो कहता है—“The thirst of desire is never filled, nor fully satisfied.—इच्छा की प्यास न कभी बुझती है, और न कभी पूरी हो पाती है ।” अतः आसुरी-जीवन को कभी सुख और शान्ति नहीं मिल पाती । आप लोगों को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि ‘धर्म का भूषण वैराग्य है, वैभव नहीं ।’ वैभव और विलास में पशुता का वास है, और वैराग्य में दिव्यता का । जो जीवन अहिंसा, संयम और तप पर आधारित है, उसे दैवी जीवन कहा जाएगा । क्योंकि इसमें मनुष्य के मौलिक गुणों के विकास पर बल दिया गया है । अहिंसा, प्रेम, सत्य, ब्रह्मचर्य और सन्तोष आदि मनुष्य के मौलिक गुण हैं । महाकवि गेटे कहता है—“The basis of all progress is self-reliance”—मनुष्य की समस्त प्रगति का मूल आधार, उसकी आत्म-निर्भरता है । आत्म-निर्भरता का अर्थ है—‘अपनी शक्ति से अपना विकास करना ।’ जो जीवन आत्म-मुखी होता है, उसे अध्यात्म-जीवन कहते हैं । जीवन का यह चरम विकास है । अध्यात्म-जीवन का विकास तीन तथ्यों पर आधारित है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र्य । टेनीसन कहता है—“Self-reverence, Self-knowledge, and Self-control, these three alone lead life to sovereign power—आत्म-विश्वास, आत्म-ज्ञान और आत्म-संयम—केवल ये तीन तत्व जीवन को परम शक्तिशाली बनाते हैं । इन गुणों के सम्पूर्ण विकास को ही वस्तुतः अध्यात्म-जीवन कहते हैं ।

मैं अभी आपसे कह रहा था कि इस पवित्र पर्व-दिवसों में आप अपनी आत्मा का निरीक्षण और परीक्षण कर देखें, कि आपका जीवन, आसुरी-जीवन तो नहीं है । अपने जीवन को दिव्यता और अध्यात्म की

ओर ले जाने का प्रयत्न करें । जो शुभ अवसर हाथ लगा है, उसे सफल और सार्थक करने का प्रयत्न कीजिए ।

पर्युषण में क्या करें ?

धर्म की साधना करने के लिए यह सबसे सुन्दर अवसर है । 'कल्प-सूत्र' में कहा गया है, कि यह पर्व एक आध्यात्मिक पर्व है । साधु-जनों को और गृहस्थ-वर्ग को इसकी शुद्ध मन से आराधना करनी चाहिए । साधु-वर्ग के लिए इन पर्व-दिवसों में पाँच विशेष कर्तव्य बतलाए हैं—सांवत्सरिक-प्रतिक्रमण, केश-लोच, यथाशक्ति तपश्चरण, आलोचना और क्षमापना । विशेष रूप में आलोचना, प्रतिक्रमण और क्षमापना तो होनी ही चाहिए । मन के वैर, विरोध और प्रतिरोध को क्षमा एवं प्रेम के जल से धोकर स्वच्छ और साफ़ कर लेना चाहिए । मन में किसी के भी प्रति द्वेष और घृणा की भावना नहीं रहनी चाहिए । साधक को विचार करना चाहिए -

“रोष-तोष किण सुं करूँ ?

आप ही आप बुजाय ॥”

इन परम पवित्र पर्वों में गृहस्थों के लिए भी कुछ विशेष कर्तव्य बताए गए हैं—‘शास्त्र-श्रवण, यथाशक्ति तपश्चरण, अभय-दान, सुपात्र-दान, ब्रह्मचर्य का परिपालन, आरम्भ का त्याग, संघ की सेवा और क्षमापना ।’ इसके अतिरिक्त श्रावक को आलोचना और प्रतिक्रमण भी करना चाहिए । वैसे तो प्रतिक्षण जीवन में धर्म की साधना चलती रहनी चाहिए, परन्तु पर्व के दिनों में विशेष विवेक के साथ धर्म की साधना करनी चाहिए । चित्त-विकारों के उपशमन के लिए इससे बढ़कर अन्य अवसर कौन-सा मिलेगा ? आलस्य तथा प्रमाद का परित्याग करके आपको धर्म की साधना के लिए तैयार होना है । यही सन्देश लेकर ‘पर्युषण-पर्व’ आपके द्वार पर आया है । आप इन दिनों में उपवास करते हैं । परन्तु क्या कभी आपने विचार किया, कि ‘उपवास’ शब्द का अर्थ क्या है ? उपवास का अर्थ—भूखा रहना ही नहीं है । आत्मा के समीप वास करना ही वास्तव में उपवास है । साल भर तक आप आत्मा से हटकर इधर-उधर भटकते रहे, पर आज अवसर आया है, कि आप फिर आत्मा के समीप आ जाँँ । ‘प्रतिक्रमण’ शब्द का अर्थ भी यही है कि वापस

लौटना । कहाँ से वापस लौटना ? पाप से, दोष से और बुराई से । अपने मन की सौम्यता को प्रकट होने दीजिए । क्रूरता अपने आप नष्ट हो जाएगी । अपने मन की मृदुता को व्यक्त होने दीजिए । कठोरता स्वयं दूर हो जाएगी । अपने मन में सरलता का प्रवेश होने दीजिए । वक्रता स्वयं वहाँ से विदा हो जाएगी । मन में सबके प्रति प्रेम-भाव रखिए । फिर किसी के प्रति द्वेष हो ही नहीं सकेगा । मन में अभय की भावना आने दो ! मन में अद्वेष की भावना का प्रवेश होने दो ! मन में अखेद की भावना का संचार होने दो ! फिर देखिए, आप अपने जीवन का चमत्कार ! वह जीवन एक ऐसा जीवन होगा, जिसको सभी नमस्कार करेंगे ।

अध्यात्म-साधना का मस्त योगी सन्त आनन्दघन कहता है—

“आत्म ज्ञानी श्रमण कहावे,
बीजा तो द्रव्य-लिंगी रे ।
वस्तुगते जे वस्तु-प्रकाशे;
‘आनन्दघन’ मति संगी रे ॥”

यह अध्यात्म-योगी सन्त कहता है, कि द्रव्य-साधना तो बहुत की है । परन्तु भाव-साधना के बिना जीवन का कल्याण नहीं हो सकता । अतः भाव-साधना करो । भाव-साधना कैसे हो ? इसके उत्तर में सन्त कहता है—‘आत्म-ज्ञान प्राप्त करो ।’ आत्म-ज्ञान सबसे श्रेष्ठ एवं सबसे ज्येष्ठ है । जिसने अपनी साधना से आत्म-ज्ञान अधिगत कर लिया, वही श्रमण है, वही सच्चा साधक है ! आत्म-ज्ञानी का लक्षण है, कि जो वस्तु का वास्तविक रूप समझ गया है, जिसने पुद्गल को पुद्गल समझ लिया है, और चेतन को चेतन समझ लिया है । पर्युषण-पर्व आपको इसी अध्यात्म-साधना की ओर ले जाने की बात कहता है । पर्युषण-पर्व कहता है—‘तुम अपने-आपको परखो, अपने आपको पहचानो’ ! अपने को पहचान लिया, तो फिर किसी अन्य को पहचानने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी । अपने को समझना ही कठिन है ।

जीवन दुर्लभ है

पुण्य-योग से आपको मानव का जीवन मिल गया है । याद रखो; यह जीवन संसार में और संसार की अंधेरी गलियों में भटकने के लिए

नहीं है ! संसार के काम-भोग के दल-दल में कीड़ा बनकर पड़े रहने के लिए नहीं है । यह अमूल्य मानव-जीवन संसार की गली-कूचों में फिरते हुए शूकर-कूकर की तरह बिता देने के लिए नहीं है । यह जीवन संसार के क्षण-भंगुर भोगों के लिए नहीं है, बल्कि यह तो किसी उच्चतम आदर्श के लिए है ! संसार की वासना, कामना और माया से युद्ध करके—परम पवित्र बनकर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बन जाने के लिए है ! विश्वास करो, तुम में भी वही शक्ति विद्यमान है, जो ऋषभ देव में थी, जो नेमिनाथ में थी, जो पार्श्वनाथ में थी और जो महावीर में थी । आत्मा में परमात्मा बनने की शक्ति है । महापुरुष बनने की शक्ति प्रत्येक आत्मा में है । पर साधना के बिना यह सब कैसे हो ? कुछ लोग कहते हैं—‘महापुरुष बनाए नहीं जाते, वे तो जन्म-जात होते हैं ।’ कुछ कहते हैं—‘जन्म से कोई महापुरुष नहीं होता, वह साधना से बनता है ।’ कुछ कहते हैं—‘महापुरुष न जन्म से होता है, न साधना से बनता है, वह तो भक्तों के द्वारा बनाया जाता है ।’ मेरे विचार में इन तीनों विकल्पों में से बीच का विकल्प ही सबसे सुन्दर है । महापुरुष न तो बनाया जा सकता है और न जन्म-जात ही होता है । जो साधना करता है, वही महापुरुष बन सकता है । आत्मा जब तीर्थकर बनता है, तो वह उसकी साधना का ही फल है । आत्मा में शक्ति अनन्त है । परन्तु वह प्रसुप्त पड़ी है, उसे जागृत करने की देर है । ज्यों ही आत्मा जागृत होती है, त्यों ही उसमें सिद्धत्व प्रकट होने लगता है । शव से शिव बन जाता है । इस शव में ही शिवत्व प्रकट करने की कला को ‘साधना’ कहते हैं ।

आज के इन पर्व-दिनों में, पर्युषण-पर्व में और इस अठाई पर्व में महापुरुषों की जीवन गाथाएँ आप भक्ति, प्रेम तथा श्रद्धा के साथ में सुनते हैं । आप उन्हें प्रति वर्ष क्यों सुनते हैं ? क्योंकि आपके जीवन को इन जीवन चरित्रों से प्रेरणा मिलती है, उत्साह मिलता है । आपका मुरझाया जीवन फिर से हरा-भरा बन जाता है । चित्त के विकारों को दूर करने के लिए आपको प्रकाश मिलता है । जिस प्रकार समुद्र में ‘प्रकाश-स्तम्भ’ रहता है, जिसका प्रकाश आस-पास चारों ओर फैल जाता है, उसे देखकर दूर-दूर से आने-जाने वाले जहाज अपने लक्ष्य पर पहुँच जाते हैं । इधर-उधर भटकने से बच जाते हैं । चट्टानों से टकराने का भय नहीं रहता । ये सब लाभ हैं, उस ‘प्रकाश-स्तम्भ’ के जो समुद्र में खड़ा अपना प्रकाश चारों ओर बिखेरता रहता है । बस, इसी प्रकार संसार के ये विराट पुरुष भी संसार-सागर के प्रकाश-स्तम्भ हैं, जिन्हें

देखकर आप अपने जीवन से प्रेरणा एवं उत्साह प्राप्त करते हैं । महापुरुषों के जीवन से निकलने वाला दिव्य प्रकाश, एक वह प्रकाश है, जो कभी बुझता नहीं है, जो कभी मिटता नहीं है । इन महापुरुषों ने यह दिव्य प्रकाश कहीं बाहर से नहीं पाया, उन्होंने इसे पाया है, अपने ही अन्दर से । त्याग की साधना से, संयम की साधना से, अहिंसा और प्रेम की साधना तथा कठोर तप की साधना से । ये महापुरुष, वे महापुरुष हैं, जिन्होंने सोने के महल छोड़कर जंगल में वृक्षों के नीचे वास किया, जिन्होंने सुखद भोग छोड़कर त्याग एवं तपस्या का कठोर जीवन अंगीकार किया, जिन्होंने विविध भोग त्याग कर योग की साधना की, और जिन्होंने अपना परिवार एवं परिजन छोड़कर विकट वनों में घोर तप किया । धन्य हैं, वे महापुरुष ! एक दिन जिनके हाथ दूसरों के लिए वरदान थे, एक दिन हजारों-हजार नेत्र जिनकी ओर आशा भरी दृष्टि से देखते थे, एक दिन जिनके हाथों से हजारों-लाखों को दान मिलता था । परन्तु एक दिन ऐसा आया, कि वे स्वयं ही भिक्षा-पात्र लेकर दूर-दूर घूमने लगे । द्वार-द्वार पर अलख जगाने लगे । जिनके सिर पर सदा छत्र एवं चंवर रहते थे, एक दिन ऐसा आया कि वे नंगे सिर और नंगे पैर नगर की गली-गली में घूम रहे हैं, डगर-डगर में फिर रहे हैं । परन्तु इस परिवर्तन को आप गरीबी समझने की भूल न करें । यह गरीबी नहीं, त्याग था । गरीबी में लाचारी होती है, और त्याग में स्वेच्छा होती है । गरीबी में दीनता रहती है, और त्याग में रहता है, आत्म-गौरव ।

अन्तकृत् दशा-सूत्र

मैं आपसे अभी कह रहा था, कि आप लोग इन पवित्र पर्व-दिवसों में महापुरुषों की जीवन गाथाएँ सुनते हैं । 'अन्तकृत् दशा-सूत्र' में और 'कल्प-सूत्र' में आप ऐसे ही महापुरुषों के जीवन चरित्रों को सुनते हैं । पर्युषणों में कहीं पर अन्तकृत्-दशा, कहीं पर कल्प-सूत्र और कहीं पर दोनों शास्त्रों को सुनने की परम्परा है । परन्तु मैं आपको 'अन्तकृत् दशा-सूत्र' सुना रहा हूँ । इसमें नव्वे महापुरुषों की जीवन-गाथाएँ, जीवन-कथाएँ और जीवन-चरित्र हैं । इन महापुरुषों में, २१ विराट् विभूतियों में और इन विराट् व्यक्तित्वों में वृद्ध भी हैं, तरुण भी हैं, शिशु भी हैं, नर भी हैं, और नारी भी हैं । त्याग और तपस्या की ये जीती-जागती मशालें जिधर भी निकलीं, अपना दिव्य प्रकाश बिखेरती चली गयीं । इसमें त्याग, वैराग्य, संयम, क्षमा, तप और अहिंसा की जीती-जागती ज्योतियों का भव्य, दिव्य और हृदयस्पर्शी वर्णन है ।

भगवान् महावीर की मूल वाणी के ग्यारह अंगों में यह आठवाँ अंग-सूत्र है । 'अन्तकृत् दशा' इसका नाम है । इसका अर्थ है—जिन्होंने अपनी कठोर साधना से संसार-दशा का अन्त कर दिया है, उन दिव्य विभूतियों के जीवन का इसमें सजीव वर्णन किया गया है । प्रस्तुत सूत्र में आठ वर्ग हैं, आठ अध्याय हैं, जो पर्व के इन आठ दिनों में पूरे करने होते हैं । नव्वे महापुरुषों के जीवन को आठ दिनों में सुना सकना सरल काम नहीं है । विशाल सागर को एक लघु गागर में भरने जैसा विकट यह काम है । 'अन्तकृत् दशा' सूत्र में वर्णित सभी महापुरुषों के जीवन परम पवित्र हैं । प्रस्तुत सूत्र के पठन, मनन और श्रवण की परम्परा बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है । इस शास्त्र के मूल प्रवक्ता हैं—भगवान् महावीर । फिर इसके प्रवक्ता रहे—गणधर सुधर्मा, और श्रोता रहे—आयुष्मान् जम्बू । इस प्रकार गुरु-शिष्य परम्परा से यह शास्त्र आज मुझ तक और आप तक आ पहुँचा है । इसके श्रवण से, पठन से और चिन्तन से निश्चय ही आत्मा का कल्याण होता है । शुद्ध भाव से यदि आप इसका श्रवण करेंगे, तो आपके जीवन में से भी वह ज्योति प्रकट हो सकती है, जो उन महापुरुषों के जीवन से कभी हो चुकी थी ।

मैं आपसे कह रहा था, कि आज पर्युषण-पर्व प्रारम्भ हो चुका है । आत्मसाधना के लिए आपको तैयारी कर लेनी चाहिए । पर्युषण-पर्व में आप लोगों को जो कुछ भी क्रिया-काण्ड करना होता है, वह तो इस पर्व का शरीर है । परन्तु इस पर्व की आत्मा है—समभाव की साधना, क्षमा की साधना और ममता-त्याग की साधना । विवेक और वैराग्य ही वस्तुतः इस पावन पर्व की मूल आत्मा है । इस पर्व की साधना का मुख्य लक्ष्य है—कषायों पर विजय प्राप्त करना । अपने विचारों को सुन्दर संस्कारों में परिणत करना । असत्य से सत्य की ओर जाना, अन्धकार से प्रकाश की ओर जाना ।

मैं आपसे कह रहा था, कि प्रस्तुत पर्युषण-पर्व अनासक्ति-योग की साधना का पुण्य पर्व है । यह पर्व कहता है, कि यदि तुम गृहस्थ हो, तो भरत बनो, जनक बनो, आनन्द बनो और कामदेव बनने का आदर्श अपने सामने रखो । यदि तुम सन्त हो, तो गज सुकुमार बनो, अर्जुन बनो, अतिमुक्त बनो और स्कन्धक बनने का महान् लक्ष्य अपने सामने रखो । यदि तुम श्राविका और साध्वी हो, तो काली, महाकाली बनो

और चन्दना एवं मृगावती बनने का ध्येय अपने सामने रखो । आपका हर कदम साधना के पावन-पथ पर ही पड़ना चाहिए । आपके जीवन की बुलन्दी हिमाचल से भी ऊँची हो, और आपके जीवन की गहराई सागर से भी गहरी हो । बस, 'पर्युषण-पर्व' आपको यही शिक्षा और यही दीक्षा देने के लिए आपके जीवन द्वार पर आया है ।



हमारे प्रेरणास्रोत : इतिहास के उज्वल पृष्ठ

संसार का प्रत्येक समाज, राष्ट्र और धर्म अपने इतिहास और पूर्वजों के पद चिन्हों पर और उनकी स्मृतियों के प्रकाश में अपने पथ को आलोकित करता हुआ उस पर आगे बढ़ता रहता है । एक विचारक ने कहा है—कि यदि किसी जाति, समाज या राष्ट्र को नष्ट करना हो, उसे अपनी गौरव-गरिमा को खत्म करके दुर्भाग्य के दुर्दिन देखने के लिए सर्वनाशक महागर्त में गिराना हो तो और कुछ करने की आवश्यकता नहीं, बस एक ही काम करना है कि उसका इतिहास उससे छीन लिया जाय, पूर्वजों के स्मरण पर रोक लगा दी जाय अथवा इतिहास के पृष्ठों पर अंकित पूर्वजों के शौर्य, त्याग एवं गौरव मण्डित कथानकों, चरित्रों एवं वचनों को विपरीत ढंग से उपस्थित किया जाय । फिर वह देश, समाज, राष्ट्र या धर्म अपने आप पतन की ओर अग्रसर हो जायेगा ।

इतिहास की उदात्त भावनाएँ

भारतवर्ष जब तक अपने पूर्वजों को नहीं भूला, अतीत की गौरव गाथाओं को याद करता रहा, तब तक दुःख, दैन्य, विपत्तियों एवं आक्रमणों के समक्ष उसने कभी घुटने नहीं टेके । अपने इतिहास की स्मृतियों के बल पर वह पुनः नवीन, शौर्य, वीर्य और पराक्रम को प्राप्त करके सामर्थ्यवान् बना रहा, जूझता रहा और दुनियाँ को अपने प्रदीप्त तेज से आलोकित करता रहा । भारत ने अपने पूर्वजों, माताओं, बहनों, गुरुओं, तीर्थकरों आदि की उज्वल स्मृतियों को संजोकर रखा है, यही उसकी सबसे बड़ी निधि है । धर्म और समाज को जीवित रखने वाली वही अमर संजीवनी बूटी रही है । जब भी धर्मों, परम्पराओं और समाज में विकृतियाँ आईं, भूलें हुईं, तभी अतीत की स्मृतियों ने उस अंधकार को मिटाया, विकार का परिष्कार करके उसके रक्त में पवित्रता का संचार किया, और इतिहास के आलोक में अपना मार्ग निश्चित किया ।

जब कोई देश या राष्ट्र, समाज या धर्म हीन भावनाओं का शिकार हो जाता है, वह अपने महत्त्व को भूल जाता है, उसे निरन्तर यह सुनाया जाय कि तू कुछ नहीं है, तुझमें कोई सामर्थ्य नहीं है, तेरे पूर्वजों ने कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं किया, तो अवश्य ही उस देश, राष्ट्र, जाति, समाज

और धर्म की परम्पराएँ छिन्न-भिन्न होने लग जाती हैं । उसके रक्त की ऊष्मा ठण्डी पड़ जाती है और वह अपने उन्नति और विकास के मार्ग से हटकर अवनति एवं ह्रास की ओर बढ़ जाता है । परन्तु इसके विपरीत यदि कोई अन्दर की गहराइयों में उतर कर पूर्वजों के महत्त्व, बल, विक्रम, शौर्य, ज्ञान, दर्शन एवं चरित्र के दर्शन करता है तो उसे भान होता है कि वह कैसी महान् आत्माओं का उत्तराधिकारी है ? उसके उन पराक्रमी पूर्वजों का ऊर्जस्वल रक्त अब भी उसकी धमनियों में प्रवाहित हो रहा है । वे विवेक और विचार के धनी पूर्वज किस प्रकार संकट एवं अन्धकार की घड़ियों में अपना पथ प्रशस्त करते रहे, और आभ्यन्तर एवं बाह्य शत्रुओं से जूझते रहे तब अवश्य ही उसे वह दिव्य प्रकाश प्राप्त हो जाता है, जिसके प्रकाश में वह अपनी भूली हुई राह फिर प्राप्त कर लेता है । उसकी हीन भावनाएँ नष्ट हो जाती हैं और एक अक्षय जीवन का स्रोत उसके मानस में उमड़ पड़ता है ।

हीन भावना के कीटाणु

मनोविज्ञान का यह सिद्धान्त है कि जो व्यक्ति हीन भावना के कीटाणुओं से ग्रस्त या आक्रांत हो जाता है वह कभी उन्नति नहीं कर सकता । क्षय के रोगी की तरह ये हीनता के कीटाणु उसे अन्दर ही अन्दर से खोखला करते रहते हैं । यदि इस रोग से उसे बचाना हो तो शुद्ध संकल्पों को जगाओ, उसकी भावना में महानता के आदर्श भरो, उसके विचारों में ऊँची-ऊँची कल्पनाओं का संचार करो कि तुम समाज और राष्ट्र के अत्यन्त उपयोगी अंग हो, तुम में भी राष्ट्र को मोड़ देने की अपार शक्ति है । ईसा ने अपने उपदेश में एक जगह कहा है—“तुम यह मत सोचो कि संसार में हमारा कोई अस्तित्व नहीं है । तुम इस सृष्टि के नमक हो, संसार का स्वाद बदलने की क्षमता तुम्हारे में है” । वास्तव में हमें मानवीय मानस के मूल को सींचना चाहिए नाकि पत्तों को । जहाँ पर हीन भावना के कीटाणु पैदा होकर जीवन-वृक्ष का रस सोख रहे हैं वहीं पर उनको मिटा कर उच्च संकल्पों का जल सींचने की बात भारतीय विज्ञान की महत्त्वपूर्ण परम्परा है । यदि उस मूल पर ही प्रहार किया जाय तो फिर शाखाएँ कैसे निकलेगी, वृक्ष का विकास कैसे हो सकेगा ?

बच्चों का मानसिक विकास

यदि किसी बच्चे को निरन्तर बुद्धू, मूर्ख, पागल आदि शब्दों से पुकारा जाय तो निश्चित है कि उसका मानसिक विकास, प्रगति और उन्नति रुक जायेगी। वह धीरे-धीरे इन हीन विचारों से प्रभावित होने लगता है, और अन्ततः अपने को दीन, हीन एवं अयोग्य मानने लग जाता है, ऐसे बच्चों का मन घृणा और कुंठा से भरा रहता है। वे कहीं खुल कर बोल नहीं सकते, उन्हें किसी भी कर्म पथ पर बढ़ने का साहस भी नहीं हो सकता। तो माता-पिता ऐसा करते हैं वे यद्यपि अपने बच्चों के शारीरिक पोषण की ओर काफी ध्यान देते होंगे किन्तु उनको मानसिक दृष्टि से कमजोर करते हैं। उनके जीवित मन की हत्या करते हैं। हम एक ओर उसे बुद्धू, गदहा, बदमाश आदि कहते हैं और दूसरी ओर यह आशा करते हैं कि वह विद्वान्, वीर और सदाचारी बना रहे। परन्तु ऐसा कभी नहीं हो सकता। जैन शास्त्रों में भाषा विवेक पर विवेचन करते हुए इसीलिए कहा है कि किसी दास को दास भी मत कहो, किसी रोगी, दुराचारी, और अपंग को उसकी हीनता को लक्ष्य करके एक भी शब्द मत बोलो। इस विचार के पीछे यही मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि ऐसी ध्वनियाँ धीरे-धीरे व्यक्ति पर वैसा ही असर डालती हैं। कभी-कभी अनेक परिवारों में ऐसा देखा जाता है कि किसी बच्चे से कोई नुकसान हो गया तो ऐसा लगता है मानो घर में भूकम्प ही आ गया और तो क्या, बच्चे से कोई काँच का गिलास फूट गया तो अभिभावक ऐसे आकुल-व्याकुल होते हैं कि जैसे हमारा भाग्य फूट गया हो। खेद है उनकी दृष्टि में उस गिलास का जितना महत्त्व है उतना भी महत्त्व अपने बच्चे का नहीं है। यही कारण है कि उक्त साधारण भूल पर बच्चों को अनेक दुर्वचनों से प्रताड़ित करते हैं, और कभी-कभी कड़ी से कड़ी सजा भी दे देते हैं। वे यही मानते हैं कि बच्चों को हमेशा डराते धमकाते ही रहना चाहिए—लालने बहबो दोषाः ताडने बहबो गुणाः—इस प्रकार उन बच्चों में अपने प्रति और परिवार के प्रति हीन भावना, घृणा और द्वेष के संस्कार जमते हैं जिनमें से भविष्य में जाकर अनेक बुरे परिणाम प्रकट होते हैं।

बचपन की अवस्था एक ऐसी अवस्था होती है जब बच्चों का अन्तर मन अँगड़ाई लेता रहता है। जीवन के मैदान में वह जूझने के लिए अग्रसर होता रहता है। उसमें एक गिलास के बदले लाखों करोड़ों गिलासों के बनाने की क्षमता रहती है, जिसके विकास की अपेक्षा है।

किन्तु माता-पिता आदि के दुर्व्यवहार से उनकी उस शक्ति की भ्रूण हत्या कर दी जाती है । विकास को अवरुद्ध कर दिया जाता है और वह हीन भावना का शिकार होकर जीवन से परास्त हो जाता है ।

इसके विपरीत यदि बच्चे की पीठ ठोक दी जाती है, उसे शेर बहादुर कहकर हौंसला बँधा दिया जाता है तो वह विकट से विकट कार्यों में भी बिना तनिक परवाह किए जुट पड़ता है । उसका साहस और शौर्य, जिस पर अज्ञान की राख जमी पड़ी थी इस फूँक से प्रज्वलित होकर चमक उठता है । इसके विपरीत यदि उसमें हीन भावना का सूत्रपात कर दिया जाय तो फिर वह उठ नहीं सकता, फिर उसकी प्रगति और विकास की कामना करना कोयले पर फूँक मारने के समान होगा । आत्म-विश्वास की लौ बुझ जाने के बाद जल्दी से जगाना कठिन होता है ।

आत्मा को जगाओ

बच्चे की तरह ही प्रत्येक साधक की आत्मा है, भारत के दर्शनों ने साधक की आत्मा को जगाने के लिए सबसे पहला यही संदेश दिया है कि तुम अपनी अनन्त और विराट शक्ति एवं सत्ता पर विश्वास करो । तुम कौन हो ? तुम्हारे अन्दर क्या-क्या शक्तियाँ छिपी हैं ? क्या तुम जान पाये हो ? तुम सिर्फ लाल, पीली, गोरी मिट्टी पिण्ड मात्र नहीं हो, तुम आत्मा हो और तुम्हीं परमात्मा हो । तुममें अनन्त शक्तियाँ भरी पड़ी हैं । किन्तु दुर्भाग्य केवल इतना ही है कि तुम अज्ञान, माया, मोह और वासना की गाढ़ निद्रा में सोए हुए हो ? आत्मा के सो जाने पर सारी शक्तियाँ सो जाती हैं और जग जाने पर जग जाती हैं । वन का शेर जब सो जाता है तो वन के सभी छोटे-मोटे जीव जन्तु इस प्रकार उछल कूद में मस्त हो जाते हैं कि उन्हें पता ही नहीं रहता कि यहाँ पर शेर भी सोया हुआ है, किन्तु जैसे ही शेर जगता है और अँगड़ाई लेकर एक बार दहाड़ता है तो उसके गर्जन से सारा क्षितिज गूँज उठता है और चारों ओर सन्नटाटा छा जाता है ।

शेर तो जब नींद में सोया हुआ था तब भी शेर ही था और उसकी समस्त शक्तियाँ भी उसी के पास थीं, कहीं बाहर तो गई नहीं थीं, किन्तु उसकी शक्तियों पर तन्द्रा का नशा छाया हुआ था और अब जागृति आ गई है । शेर के जगते ही तो सारी शक्तियाँ और चेतना जग उठीं । इसी प्रकार आत्मा के जग जाने पर अन्तर में क्रान्ति आ जाती है, समस्त

शक्तियाँ अँगड़ाई लेकर चैतन्य हो जाती हैं । और जब आत्मा सो जाती है तो चारों ओर क्रोध, लोभ, अभिमान, माया, मोह, विकार, राग द्वेष आदि हुड़दंग मचाने लग जाते हैं, किन्तु ज्यों ही आत्मा जगी नहीं कि वे सब कहीं गायब हो जाते हैं । आत्मा का कण-कण आलोकित हो उठता है और सर्वत्र दया, करुणा, क्षमा, सरलता आदि सद्गुणों का रमणीय रूप ही नजर आता रहता है ।

भारतीय चिंतन धारा में सदा इस महत्वपूर्ण पहलू पर बल दिया है कि आत्मा का दर्शन करो । आत्मा को जगाओ । इसके भीतर अनन्त शक्तियों का भण्डार भरा है । ज्ञान का सम्पूर्ण प्रकाश छिपा है और परमात्मा का रूप निहार रहा है । भगवान महावीर ने कहा है कि—अप्पा सो परमप्पा—आत्मा सो परमात्मा—तुम भगवान हो, तुम्हारे में अब भी ईश्वरत्व का अंश है । इसलिए अपनी हीन मनोवृत्तियों को समाप्त करके इस गाढ़ तन्द्रा को तोड़ो और आत्मा को जगाओ । तुम्हारी शक्तियाँ स्वतः प्रकट हो जाएँगी । तुम पूर्ण परमात्मपद पर प्रतिष्ठित हो जाओगे ।

आत्म-गौरव

जब तक आत्मा सोता रहता है तब तक अनेक बाहरी शक्तियाँ आत्मा पर हावी होकर उसके शुद्ध स्वरूप को प्रकट नहीं होने देतीं, किन्तु जब उसे अपने स्वरूप का भान होता जाता है तो आत्मगौरव की भावना उसमें जागृत हो जाती है और वह बाहरी शक्तियों को तत्काल पछाड़ देता है । इस सम्बन्ध में एक कहानी है कि एक क्षत्रिय कहीं जा रहा था । रास्ते में एक दूसरा आदमी मिल गया दोनों साथ-साथ चल रहे थे, किसी कारणवश दोनों में परस्पर तकरार हो गई और झगड़ पड़े । दूसरे व्यक्ति ने क्षत्रिय को पछाड़ दिया । क्षत्रिय ने पुनः अपना होश संभाला तो उससे पूछा कि तुम कौन हो ? इस पर उसने बताया कि मैं चमार हूँ ? यह सुनते ही क्षत्रिय का क्षात्र तेज चमक उठा—चमार होकर इतनी हिम्मत ! आओ अभी तुझे बताता हूँ । मुझ क्षत्रिय से कैसे भिड़ सकता है ? क्षत्रिय में ज्यों ही अपना आत्म गौरव जगा और चमार में अपने प्रति हीन भावना उठी कि “अरे ! मैं क्षत्रिय से भिड़ गया” ? दोनों परस्पर भिड़े और तत्काल क्षत्रिय ने चमार को पटक पछाड़ा ।

क्षत्रिय में उदात्त भावना जगी, आत्म गौरव का तेज चमका और चमार में हीन भावना का संचार हुआ तो वह लड़खड़ा गया, और क्षत्रिय

बिजली बन गया । शरीर तो दोनों का वही था जो पहले था किन्तु स्थिति में फर्क आ गया । एक के मनोभाव बढ़े दूसरे के दुर्बल पड़े ! बस इसी कारण दोनों की पूर्व स्थिति में अन्तर आ गया । वास्तव में शक्ति का स्रोत शरीर मांस पिण्ड या रक्त नहीं है । शरीर का वजन दो चार पौण्ड या सेर दो सेर कम या अधिक हुआ तो क्या हुआ ? उसका कोई विशेष महत्त्व नहीं है । शक्ति का स्रोत आत्मा है, और उसका बल मानव की महत्त्वपूर्ण उच्च भावनाओं में सम्मिलित रहता है । इसलिए हमें अपने स्वरूप को, अपने अतीत को, और अपने पूर्वजों को अपने प्रेरणा स्रोत बनाने चाहिए ।

उज्वल इतिहास

हमारा इतिहास बहुत ही गौरवोन्नत एवं उज्वल रहा है यादव जाति का इतिहास, अरिष्टनेमि, राजुल, रहनेमि और गिरनार पर्वत की कथाएँ हमारे लिए दीप स्तम्भ के समान हैं । वहाँ से प्रेरणा मिलती है, वह शक्ति का स्रोत है और उत्साह एवं मनोबल को जगाकर आदर्श पद की ओर उन्मुख एवं उत्प्रेरित करता है । गिरनार की वे पर्वत मालाएँ, आज भी हमें गौरव मंडित सी दीख पड़ती है, रहनेमि और राजुल का वह ओजस्वी-संवाद गूँजता हुआ सा सुनाई दे रहा है ।

जब गिरनार पर्वत के सहस्राब्द वन में भगवान अरिष्टनेमि का समवसरण लगा था, तब उन्हीं का स्नेहानुरक्त भाई रहनेमि साम्राज्य, सुन्दरियों और भोग विलास का परित्याग करके गिरनार की गुफा में ध्यानस्थ खड़ा साधना में लीन हो रहा था । उसी समय राजुल, जो भगवान अरिष्टनेमि के दर्शनों के लिए जा रही थी, वर्षा से भींगती हुई उसी गुफा में प्रवेश करती है । राजुल को यह कल्पना भी नहीं थी कि यहाँ पर कोई अन्य भी है ? इसलिए निःसंकोच भाव से उसने अपने वस्त्रों को उतार कर निचोड़ना शुरू किया । उसी समय बिजली चमकती है और उसका प्रकाश सीधा गुफा में पड़ता है । रहनेमि का, जो वहीं ध्यानस्थ मुद्रा में खड़ा था, यकायक ध्यान भंग होता है । और सामने निर्वस्त्रा राजुल के तन पर उसकी दृष्टि पड़ती है । सचमुच एक बार उसकी आँखों में बिजली सी कोंध गई । राजुल के अपार लावण्य और सौन्दर्य को देखकर उसका मन बेकाबू हो गया और फिर यह एकान्त ! और उस पर निर्वस्त्रा नारी ! जैसे बन्दर को बिच्छू ने काट लिया हो

उस पर भूत लग गया हो फिर मदिरा भी पीली हो तो बस क्या कहना ? रहनेमि आपे से बाहर होकर राजुल के निकट आया । राजुल ने देखा तो वह सन्न रह गई, काटो तो खून नहीं । झट से शरीर पर वस्त्रों को लपेटा और नारी-सुलभ लज्जा और भय के कारण थर-थर कांप उठी ।

रहनेमि राजुल के समक्ष वासना पूर्ति का अनुचित प्रस्ताव करता है और राजुल उसका करारा और विवेकपूर्ण उत्तर देती है, दोनों का वह संवाद आज भी उत्तराध्ययन सूत्र में सुरक्षित है । आज भी राजुल और रहनेमि का वह सम्वाद नारी और पुरुष की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करता हुआ सा लगता है ।

रहनेमि एक यादव राजकुमार था, जिसने अपने यादव साम्राज्य के सिंहासन की जड़ों को गहरी बनाने के लिए कितनी ही लड़ाइयाँ लड़ीं, संसार को अपने पौरुष का चमत्कार दिखा कर और भोग विलास के वातावरण से घिरा रहा । परन्तु भगवान अरिष्टनेमि की वाणी को सुनकर जीवन का प्रवाह बदल गया, और वह भोग से योग एवं शासन से संन्यास की ओर बढ़ गया । उसने शरीर को खपाया मन को तपाया और साधना की ज्वाला में अपने आपको होम दिया, किन्तु वही एक दिन राजुल के रूप लावण्य को देखकर अपने को भूल गया । अपना ध्येय एवं अपनी साधना को भुलाकर वह वासना के प्रवाह में बह गया । पुराने सुप्त संस्कार पुनः जग गए । उसके अन्दर का वासना-सर्प मरा नहीं था, बल्कि केवल मूर्च्छित होकर सुषुप्त दशा में पड़ा था, जो निमित्त पाकर पुनः फुंकार मार कर खड़ा हो गया । रहनेमि ने राजुल से कहा कि—“क्यों संसार छोड़ती हो ? आओ हम दोनों फिर से गृहस्थ जीवन में लौट चले और मदभरे यौवन काल को सुखोपभोग में बिताएँ ।” प्रत्युत्तर में राजुल ने रहनेमि को जिस निर्मल वैराग्य धारा से समझाया वह सम्वाद आज भी दशवै कालिक उत्तराध्ययन आदि सूत्रों में विद्यमान है । जब रहनेमि पर उसके प्रशान्त मधुर उपदेश का कोई असर नहीं हुआ तो राजुल ने अन्ततः उसके क्षत्रियत्व के मर्म पर चोट करते हुए कहा —

अहं च भोग रायस्स, तं चसि अंधग वण्हिणो,

माकुले गंधणा हो मो, संजमं निहुओ चर ?

जानते हो, तुम कौन हो ? तुम्हारी नसों में किसका रक्त प्रवाहित

हो रहा है । तुम उस अंधकवृष्णि के वंशज हो, जिसने न्याय और नीति के लिए जीवन में अनेक कष्ट सहे । उस महापुरुष की संतान होकर इतने हीन और पददलित हो गये हो कि ऐसी निकृष्ट बातें मुँह से निकाल रहे हो । तुम किस मुँह को लेकर वापिस महलों में जाओगे ? जिसे त्याग कर चुके हो, उसे ही फिर ग्रहण करना चाहते हो ? यह तो ऐसी ही बात हुई कि कोई खूब अच्छा भोजन करे और उसे वमन हो जाय तो फिर से इस वमन को खाले । वमन के भोजन से तो मर जाना कहीं अधिक अच्छा है । और क्या यह भी जानते कि मैं राजा भोजकराज के निर्मल वंश की उत्तराधिकारिणी हूँ, अतः मैं अपने पवित्र जीवन की रक्षा के लिए प्राण दे सकती हूँ, किन्तु पथ-भ्रष्ट नहीं हो सकती । अस्तु, तुम मेरी लाश पर मरते ही अधिकार पा सकते हो, परन्तु जीते जी मेरे शरीर का स्पर्श नहीं कर सकते ।

राजुल के इन स्वाभिमान एवं जातीय गौरव भरे वाक्यों ने रहनेमि के भावों का प्रवाह बदल दिया । उसके गिरते हुए जीवन को सहारा देकर थाम दिया । उसे अपने उज्वल वंश के गौरव का ज्ञान हुआ । कीर्तिमय परम्परा का भान हुआ और जैसे बंधन तोड़कर भागा हुआ गजराज अंकुश लगने पर वश में आ जाता है, उसी प्रकार राजुल के वचनों से रहनेमि भी ऐसा वश में आया, ऐसा मँजा कि बस फिर कभी नहीं भटका । सीधे मोक्ष में जाकर ही विराजमान हुआ । और राजीमती भी मोक्ष प्राप्त कर गई ।

रहनेमि की उस मनोदशा पर और किसी तत्त्वज्ञान का असर नहीं हुआ किन्तु अपने क्षत्रियत्त्व के गौरव का स्मरण होने पर अपने पूर्वजों के उज्वल इतिहास की स्मृतियाँ सामने उभर आने पर अपने आप वह सुधर गई । अतः हमें अपने गौरवमय इतिहास का अध्ययन, मनन और अनुशीलन करना चाहिए, इतिहास की वे कथाएँ सिर्फ कहानियाँ मात्र नहीं हैं । उनमें इसी प्रकार की भावनाएँ संजोई हुई हैं, कि उनके अध्ययन से आत्म-गौरव जागृत होता है ।

अन्तकृत सूत्र का महत्त्व

अन्तकृत सूत्र में इसी प्रकार की गौरवपूर्ण कहानियाँ भरी हैं, वे सिर्फ कहानियाँ ही नहीं हैं, किन्तु हमारे पूर्वजों और महान आत्माओं का प्रकाश है, जिसके सहारे हमें दुःखों में और तो क्या सूली की नोक पर भी

मल्हार गीत गाने की शक्ति का अनुभव होता है । मुझे जब स्वयं मुनि जीवन के प्रथम लोच के अवसर पर कष्ट का अनुभव हुआ तो जैसे ही गज सुकुमाल और खन्धक की स्मृतियाँ जगीं कि आत्मा आनन्द ही आनन्द से ओत-प्रोत हो उठा । अनन्तः बार जब-जब नरक में गये, शरीर के टुकड़े-टुकड़े किए गये । अनेक बार पशु योनि में खाल खींची गई । जब शूकर बने तो शरीर का एक-एक बाल खींचा गया । इस प्रकार दुःख और द्वंद्व तो बहुत भोगे, किन्तु वे अपनी इच्छा या स्वतन्त्रता से नहीं, बल्कि अज्ञानता और परवशता के बन्धन में बँधकर भोगे । इसी प्रकार नरक में सड़ते रहे, भूख की आग लगी रही, प्यास से तड़फते रहे, किन्तु उनसे कोई लाभ नहीं हुआ ? इन सारी प्रक्रियाओं को अनिच्छा पूर्वक अज्ञानता में और बिना साधना के करते रहे, इसी से बन्धनों को तोड़ने के बदले, बढ़ाते ही रहे । परन्तु जब हम स्वतंत्र इच्छा के आधार पर और साधना के विचार से उपवास करते हैं, भूखे-प्यासे रहते हैं तो मन हर्ष से नाच उठता है और जो लोग दिनभर मुँह में कुछ न कुछ डालते रहते हैं, वे भी जब उपवास का संकल्प लेते हैं तो यह कितना महान् आत्मबल होगा । आज के आलोचक, भले ही कुछ कहें, अन्तर्गत टीका टिप्पणी करें । परन्तु मैं तो उनकी भावनाओं और मनोबल का आदर करता हूँ । संकल्प, इच्छा और विचार के आधार पर जो त्याग किया जाता है, उसमें कष्ट के बजाय आनन्द की अनुभूति होती है, आत्मा प्रफुल्लित रहती है । जब कि अनिच्छा और परवशतापूर्वक की जाने वाली क्रियाओं में अपार कष्ट का अनुभव होता है एवं आत्मा कुंठा से घुटती रहती है । इससे यह स्पष्ट होता है कि इसके पीछे कहीं न कहीं कोई शक्ति का स्रोत अवश्य है और वह कहीं बाहर से नहीं आकर अन्तर में ही प्रकट होता है, वह शक्ति मानसिक प्रेरणा और भावना से ही जगती है । और उस भावना का आधार है—हमारा उज्वल इतिहास ! हमारे पूर्वजों का गौरवपूर्ण जीवन चरित्र !

प्रकाश-स्तम्भ

इतिहास की वे घटनावलियाँ हमारे लिए प्रेरणादायी हैं, और हर अंधकार की वेला में प्रकाश स्तम्भ का काम देती हैं । खंधक, गौतम, शालिभद्र, स्थूलिभद्र, राजुल, मृगावती, चन्दनबाला आदि की शुभ ज्योतियाँ हमारे इतिहास की गौरवपूर्ण कलियाँ हैं । जब तक भगवान महावीर,

रामकृष्ण, गौतम आदि की पवित्र स्मृतियाँ हमारे में बनी रहेंगी और कागज के फटे पुराने पत्रों पर दो चार पंक्तियाँ भी उनकी वाणी को प्राप्त होती रहेंगी, हम झोंपड़ी में खुले आकाश के नीचे या महलों में चाहे जहाँ कहीं भी रहते हों अजर-अमर बने रहेंगे । यह पूर्वजों की स्मृतियों का ही सम्बल है कि हम हर परिस्थिति में हँसते हुए आगे बढ़ते रहते हैं ।

जब तक हमारे भाई बहन रहनेमि और राजीमती के कदमों पर चलते रहेंगे, सीता और अंजना को नहीं भूलेंगे । उन्हें कोई भी, किसी भी परिस्थिति में विचलित नहीं कर सकेगा जब तक युवकों के मानस को गज सुकुमार और चन्द्रगुप्त की स्मृतियाँ बाँधे रखेंगी उन्हें कहीं भी परास्त नहीं होना पड़ेगा । भारत के लोगों में जब तक दानवीर भामाशाह आदि की याद बनी रहेगी—जिन्होंने देश की स्वतन्त्रता के लिए कौड़ी-कौड़ी निष्ठावर कर दी और जब तक धन कुबेरों में जैनों के दान की शक्ति और परम्परा बनी रहेगी, तब तक भारत और भारतीय समाज को कोई भी शक्ति नष्ट नहीं कर सकेगी । जब तक ये प्रकाश स्तम्भ उसकी आँखों के सामने जगमगाते मार्ग दिखाते रहेंगे, तब तक यह देश और समाज उच्चता के शिखर पर आरूढ़ रहेगा ।

इतिहास का विकृत रूप

भारत में आने वाले विदेशियों, पाश्चात्यों ने भारत की जमीन को जीता, नगरों और सिंहासनों पर अधिकार किया, फिर भी वे हमेशा डरते ही रहे कि कहीं प्रबुद्ध भारत से भागना न पड़े । इसी कारण से उन्होंने भारत के इतिहास को तोड़ने मरोड़ने का यथासम्भव प्रयास किया । उन्होंने भगवान महावीर, बुद्ध, राम, कृष्ण आदि को गलत रूप में उपस्थित कर हमारे पूर्वजों को पुनीत एवं महान् स्मृतियों को विकृत करने का प्रयत्न किया । हम जिन्हें राणा प्रताप और शिवा के रूप में याद करते हैं, उन्हें 'पहाड़ी चूहा' कहा गया, और यह भी बताया कि आर्य भारत में बाहर से आए थे और गड़रिए थे । जब वे भारत में आये तो पाया कि यह बहुत ही अच्छा देश है, और यहाँ पड़ाव डाल कर बस गये, आदिवासियों को मारा और खदेड़ कर बाहर किया । उन्होंने लोगों के मानस में यह विचार जमाने का प्रयास किया कि तुम भी इस भूमि के मूल निवासी नहीं हो, जैसे हम यहाँ बाहर से आए हैं वैसे ही तुम भी

बाहर से आए हुए हो, हम भी विदेशी और तुम भी विदेशी ! कोई पहले आया और कोई पीछे आया ।

भगवान महावीर, बुद्ध आदि के इतिहास को भी उन लोगों ने बहुत गलत रूप से उपस्थित किया । एक बार इतिहास के एम. ए. के एक विद्यार्थी ने कहा कि उसने इतिहास के अध्ययन और अनुसन्धान में भगवान महावीर के बारे में एक नई खोज की है । उसने बताया कि भगवान महावीर ने गृहस्थ जीवन को छोड़कर धर्म के नाम पर या त्याग के नाम पर साधुत्व नहीं लिया, बल्कि मर्म यह है कि वह दो भाई थे और राज्य का उत्तराधिकार उनके बड़े भाई नंदी वर्धन को मिला, तथा महावीर को कुछ नहीं मिला, इससे रूठ कर साधु बन गये । यह गजब की अजीब खोज है । बुद्ध के बारे में भी बताया कि वह कायर था, उत्तराधिकार निभा नहीं पाया तो भाग गया । इस प्रकार उसने अपनी खोज की । अज्ञान मूलक-सनक में महापुरुषों को भी भगोड़े बताया । ऐसी बातों, चर्चाओं और दलीलों के बारे में जब हम विचार करते हैं तो यही निष्कर्ष निकलता है कि जब तक हम अपने इतिहास का ठीक संशोधन करके उसका सही रूप नहीं दिखाएँगे, घटनाओं तथा उनके कारणों की तह में जाकर विचार परम्परा और संभवता के आधार पर उसका मूल्यांकन नहीं करेंगे, तब तक अपने पूर्वजों को उचित श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित नहीं की जा सकती । इतिहास का अध्यापन नये सिरे से करके उन्हें नये और स्वतन्त्र दृष्टिकोण से परखने पर ही हम इतिहास का सही रूप संसार के समक्ष रख सकेंगे ।

इतिहास की फल श्रुति

पर्युषण के समय महापुरुषों के जीवन का हमें प्रकाश मिल रहा है । उनके जीवन चरित्रों, कथानकों द्वारा आदर्शों की उज्वल किरणें हमारे मानस पर छाया हुआ अंधकार मिटा रही हैं तो हम सभी लोग जहाँ तक हो सके अधिक से अधिक त्याग, तपस्या, सेवा, दान, दया आदि किसी भी रूप में कोई श्रद्धाञ्जलि उन महापुरुषों और उन पूर्वजों के चरणों में अर्पण कर सकते हैं । ऐसा न हो कि यह पर्युषण आया और यों ही चला जाय । अपने गौरवपूर्ण इतिहास का स्मरण करो, अध्ययन करो और इसको अन्तर्मन की गहराई में भी उतारो । हमारे महापुरुष, जो इस पावन पर्व के प्रसंग पर हमारे मन के द्वार पर आकर खड़े हो जाते

हैं; तो क्यों हम उनके श्रीचरणों में त्याग, तपस्या, सेवा आदि का कोई न कोई सुगन्धित पुष्प अर्पण करें । हाँ, वह पुष्प झूठा और सूखा हुआ नहीं हो और न उसमें वासना, अनासक्ति, विकार, अभिमान, लोभ आदि की दुर्गन्ध एवं कीड़ा लम्बा हुआ हो । जब भी आप उनके श्रीचरणों में सेवा का पुष्प अर्पित करें तो उसमें से स्वार्थ और विकार के कीड़ों को निकाल दें । दान में भी अहंकार और स्वार्थ का कांटा नहीं होना चाहिए । वह पुष्प शुद्ध, सुगन्धयुक्त और परम पवित्र हो । उसकी मधुमय सौरभ से समाज, राष्ट्र और संसार का वातावरण सुरभित हो जाए और हजारों-हजारों जीवन सुगन्ध से महकते रहें ।

ॐ

पर्युषण पर्व की आराधना

राजस्थान के लोक-साहित्य के पृष्ठों को एक बार मैं पढ़ रहा था, पढ़ते-पढ़ते एक पृष्ठ आया और वह पृष्ठ इतनी सुन्दर भावनाओं से भरा हुआ था कि सम्पूर्ण ५०० पृष्ठों की पुस्तक एक ओर और वह एक पृष्ठ एक ओर ! वर्णन चल रहा था, इस पृष्ठ में कि भारत की एक पतिव्रता साध्वी नारी का पति विदेश में गया । महीना गुजरा, दो महीने गुजरे, वर्ष गुजर गया, आया नहीं । बहुत समय बीत जाने के बाद वह लौटा । जब आया तो उस समय उस पतिव्रता सती के मन में कितना उल्लास और कितना आनन्द था ! उसके शरीर का कण-कण, उसके मन का कण-कण आनन्द से नाच उठा । सारे घर में चहल-पहल प्रारम्भ हो गई और घर ने एक नया रूप लेना प्रारम्भ किया । उस समय किसी ने पूछा कि आज क्या बात है ? क्या हो रहा है ? तो उसने कहा —

“साजन आया, हे सखी, जाकी जोती बाट ।”

आज मेरा सारा घर हँस रहा है और घर का कोना-कोना उल्लास से, आनन्द से उछल रहा है, नाच रहा है । घर के जितने भी सदस्य हैं, सब हर्ष से उन्मत्त हैं और एक दूसरे से मिल कर प्रसन्न हो रहे हैं । आज मेरे साजन घर पर आए हैं, उस खुशी में मैं ही नहीं अपितु मेरा सारा घर, मेरा सारा परिवार; जो मेरे जीवन की शान्ति का आधार है और जो सब मेरे घर की शोभा है; वही परिवार हर्ष से नाच उठा है । बात कह दी गई सीधी सादी भाषा में । कविता का नाम लेकर, छन्द का गज लेकर नापने वालों को उसमें कुछ नहीं मिलेगा । लेकिन जो जीवन का फीता लिए हुए हैं, जो भारतीय पारिवारिक जीवन को नापने के लिए प्रेम का गज उठा सकते हैं, जो हमारे भारतीय साहित्य में एक पतिव्रता नारी को अपने पति के प्रति कितनी वफादारी, कितना स्नेह, कितना मधुर सम्बन्ध और कितनी निर्मल भावनाएँ हैं और उनका जो मूर्त रूप है, उसका विचार करने के लिए गहराई में डुबकी लगा सकते हैं; वे उस छोटी-सी देह के अन्दर एक महत्त्वपूर्ण भावना, प्रेम और स्नेह का अजस्र स्रोत मालूम कर सकते हैं ।

जीवन में ऐसे प्रसंग आया करते हैं । सूना-सूना मन, उदास और

खिन्न मन; मुँह लटकाए, मुहर्रमी सूरत बनाए, तन मन जब उन पुण्य क्षणों में, जीवन की उन पवित्र लहरों में, स्नेह और प्रेम की धाराओं में बह जाता है तो सारा जीवन हर्ष से नाचने लगता है ।

पर्युषण पर्व आपके सामने है । भारतीय पुराने साहित्य के दृष्टिकोण से, जैन परम्परा के उन पुराने पत्रों के हिसाब से पर्युषण पर्व आज ही है । मैं देख रहा हूँ कि जैन समाज का एक-एक घर हर्ष से नाच रहा है । घर का कोना-कोना हँसी में उन्मुक्त हो रहा है । घर का मतलब है घर का स्वामी, घर में निवास करने वाले व्यक्ति । आज भारतवर्ष के एक सिरे से दूसरे सिरे तक भगवान महावीर की परम्परा के उत्तराधिकारी और पर्युषण-पर्व की मंगल-वेलाओं का आनन्द लेने वालों की पुरानी पीढ़ी के उत्तराधिकारी आज जहाँ भी हैं, उनका घर पर्व के स्वर से, हर्ष से और आनन्द से गूँजने लगा होगा । सारा घर हँस रहा होगा, बहिन, भाई, बच्चे सभी आनन्द की लहरों में चल रहे होंगे । तपस्वियों को तपाराधना करते हुए आठ-आठ दिन हो गये हैं, शरीर जवाब देता है, लड़खड़ाता है, फिर भी उनके मन हर्ष से नाच रहे हैं, उनके मन आज भी वैसे ही खिले हुए हैं । क्या कारण है इसमें ? बात यह है कि वे आध्यात्मिक पर्व की भावनाएँ दो-दो हजारों वर्षों से हमारे पूर्वजों से हमें विरासत में मिलीं, उनकी वे आध्यात्मिक विचार धाराएँ, वह आप्त पुरुषों का चिन्तन और मनन और उनकी आत्मा के मर्म को छूने वाली विचार-धाराएँ; आज भले ही उसको हम भूल गये हों, हमारा पतन हो गया हो, हम रास्ते से लुढ़क गये हों, पाताल में और रसातल में पहुँच गये हों; परन्तु जैन धर्म का वह आध्यात्मिक पर्व और उसका वह महान् चिन्तन वर्ष में कम से कम एक बार तो ऐसी उछाल मारता है कि हमारी विचारधारा भी हिमालय की चोटियों पर टक्कर मारने लगती है ।

हमारा जैनत्व कितना ही सोया हुआ क्यों न हो, भले ही वह बाजारों की सौदेबाजी में अपने आपको भूल गया हो, घर के कलह में, आपस के द्वेष और झगड़े में, काम में, क्रोध में, ईर्ष्या और कलह में क्यों न डूब गया हो और इस प्रकार इन सबने मिल कर उसके स्वरूप को कितना ही धुंधला क्यों न कर दिया हो, लेकिन आज का दिन है कि हमारा वह सोया हुआ जैनत्व भी जाग उठता है, अंगड़ाई लेता है और वह अन्य विकारों में, संसार की गन्दगी में व्यापार की हड़बड़ाहट में, दुनिया

के तूफानों में दबा हुआ जब ऊपर उभरता है तो मेरू पर्वत के शिखर को छूना प्रारम्भ कर देता है ।

इस पर्व के पीछे कुछ भावनाएँ हैं । आज छोटे-छोटे बच्चे एकासना माँगते हैं, कोई उपवास माँगते हैं । शरीर कितना कोमल है उन नन्हों मुन्नों का ! पर उनकी भावनाओं को देखने से पता चलता है कि शरीर से मन कहीं बड़ा है । वह देश भाग्यशाली है, जहाँ के बच्चों के शरीर में मन बड़ा होता है; वह समाज भाग्यशाली है, जिनके बच्चों का, नौजवानों का, बहनों का, माताओं का और बड़े बूढ़ों का मन से मन ऊँचा है । और जब तक मन ऊँचा है तब तक कोई आपत्ति नहीं, दुःख भी नहीं, क्लेश भी नहीं । अगर हमारी स्थिति इतनी उत्तम है, मन अगर तन से ऊँचा है, तो यह भी निश्चित है कि हम अपने जीवन के मर्म को स्पर्श कर सकेंगे । अच्छी तरह से कर सकेंगे ।

हाँ, तो मैं कह रहा था कि पर्व आया है । पर्व आमतौर पर जब आते हैं तो खाने-पीने के लिए झगड़ा होता है । यह मैं खाऊँगा, यह मुझे दो, मुझे कम मिला, इसको ज्यादा मिल गया, बच्चों का एक हंगामा शुरू हो जाता है, लड़ाई और झगड़े शुरू हो जाते हैं, घर में एक तरह का तूफान आ जाता है पर्व के दिन । पर संसार में एक पर्व यह भी है जहाँ खाने के लिए झगड़े नहीं होते, भूखे रहने के लिए होड़ लगती है, तपस्या के लिए झगड़े होते हैं । बच्चा कहता है—मुझे एक उपवास करना है, दो उपवास करने हैं और पिता कहता है—नहीं भाई, नहीं । तुम नहीं कर सकोगे, जिद्द न करो, लो, यह रुपया ले लो और मान जाओ । रुपया दिखाया जा रहा है पर बच्चा उसकी परवाह नहीं कर रहा है और उपवास के लिए संघर्ष शुरू हो जाता है । माताएँ और बहनें, पुत्रियों और पत्नियों में तपस्या की होड़ लग जाती है । भाइयों में भी होड़ लगती है और चल पड़ते हैं इस तरह आगे की ओर, महाप्रकाश की ओर, और मैं समझता हूँ कि यह एक शुभ चिह्न है । सभी इस ओर चलते हैं, उपवास करने के लिए संघर्ष करते हैं, धन मिलता है तो उसे ठुकरा सकते हैं, लक्ष्मी आती है तो उसे भी ठुकराते हैं, प्रेम और स्नेह भी इस क्षेत्र में उन्हें उपवास करने से वंचित नहीं कर सकते, क्रोध और भय का तो वहाँ कोई स्थान ही नहीं, उसे भी ठुकरा सकते हैं, पर करते हैं यह त्याग और तपस्या । हाँ, यह बात आप कह सकते हैं कि इसमें कुछ गड़बड़ी भी आ गई है और इसमें कुछ

भूलें भी प्रवेश कर गई हैं । मैं कहता हूँ कि आज हमारे कुछ भाई या आलोचक इसमें हजार-हजार भूलें पेश करते हैं, उन्हें मैं स्वीकार करता हूँ । मैं स्वयं भी उन आलोचकों में से हूँ जो सामाजिक जीवन की छोटी-छोटी और बड़ी-बड़ी भूलों पर इधर-उधर हमेशा चोट करते रहते हैं और उसके सम्बन्ध में कभी-कभी उपहास की भाषा में भी रोष प्रकट करते हैं । पर मैं कहूँ कि यह जीवन का आज का हर्ष, उल्लास और मन की जो तरंगें हैं, त्याग और तपस्या के प्रति स्नेह और श्रद्धा की जो तरंगें हैं, आखिर इन तरंगों को भी कैसे झुठलाया जा सकता है । इनको तो कम से कम स्वीकार करना ही पड़ेगा । हाँ, ब्याज गलत चल रहा है पर मूल गलत नहीं है । आप मूल के लिए अपनी भावनाओं को अर्पण करिए । इस बात को समझने की जरूरत है । हमारे कुछ विचारक और कुछ आलोचक, ब्याज में गड़बड़ी आ रही है, तो मूल को ही खत्म करने को तैयार हैं । वस्त्र मैला हो रहा है तो फाड़ने को तैयार हो रहे हैं । पर यह विचार नहीं करते कि वस्त्र तो वस्त्र ही है, उससे हमारा झगड़ा नहीं है, पर उस पर जो मैल आ गया है, कुछ मिलावट आ गई है, उससे, उस मैल से संघर्ष करना है । तो मैल को छुटाइए, उसे साफ कीजिए । और वस्त्र तो आपका तब भी वही था और अब भी वही है । वह वस्त्र बड़ा उपयोगी है, मैल के कारण उसे फेंक कर नंगा होने की कोशिश मत कीजिए । आज के हमारे धर्म-सिद्धान्तों में, हमारे पर्वों में, रीति रिवाजों में, सामायिक पौषध और सूत्र-स्वाध्याय में, जीवन के कण-कण में कुछ विकार प्रविष्ट हो चुके हैं, कुछ त्रुटियाँ आ गई हैं तो इन भूलों की जानकारी रखना आपका कर्त्तव्य है । दूषणों के सम्बन्ध में विचार अवश्य कीजिए पर मूल वस्तु को न छोड़ बैठिए । आप दूषणों और विकारों को साफ कीजिए, बुराइयों को समाप्त कीजिए, लेकिन कहीं बुराइयों, विकारों और दोषों से संघर्ष करते-करते यह मत कहिए कि यह सब पाखण्ड ही है । यदि आप इतने दूर चले गये तो इसका मतलब होगा कि आप आमूलतः सारे जीवन से ही इन्कार कर रहे हैं ।

पर्व का अर्थ है आनन्द के मंगल क्षण । संसार भर के पर्वों का यदि आप हिसाब लगाएँ तो भारतवर्ष ही एक ऐसा देश आपको मिलेगा जो पर्वों का देश कहा जा सकता है । यहाँ सामाजिक और धार्मिक पर्व इतने अधिक हैं, जिनकी गणना करना आसान नहीं । पर्वों के सम्बन्ध

में जैन ग्रन्थों में ही क्या, वैदिक और बौद्ध ग्रन्थों में भी हजारों स्थान हैं जो पर्वों का निर्देश करते हैं । जो पर्व व्यक्ति, समाज, राष्ट्र एवं जीवन के विकास में जितना अधिक योग देता है, वह उतना ही ऊँचा पर्व गिना जाता है । पर्व हमारे जीवन के अन्तर आनन्द का प्रतीक है, सौम्य प्रकृति का चित्रण है । जहाँ जीवन के रस की धारा है, वहीं उत्सव खड़ा हो जाता है । जहाँ जीवन आनन्दमय है, वहाँ उसका रस बाह्य जीवन में, सामाजिक और धार्मिक जीवन में धाराओं के रूप में बहने लगता है । पर जहाँ मन ही मरा हुआ हो, मन में ही मुहर्रम मनाया जा रहा हो, मन का कोना-कोना रो रोकर हाय कर रहा हो तो ऐसी स्थिति में व्यक्ति, समाज या राष्ट्र के जीवन में पर्व का उदय कैसे हो सकता है ? वहाँ कोई भी पर्व पल्लवित नहीं हो सकता और जीवन में मंगल वेला नहीं आ सकती ।

आज भी भारतवर्ष में पर्वों का वही लम्बा इतिहास उसी क्रम से चल रहा है । यहाँ पर्वों के सम्बन्ध में विशाल साहित्य लाखों पृष्ठों में लिखा पड़ा है । ये पर्व कहते हैं कि भारतवर्ष एक दिन बहुत ऊँचा रहा है, आनन्द का देवता रहा है, रस की उपासना करने वाला रहा है । भारतवर्ष का हृदय केवल एक मास का टुकड़ा ही नहीं रहा, अपितु उसके हृदय में प्रेम की गंगा एवं रस की धारा बहती रही है । वह विश्व को पवित्र विचार देता रहा है और उस हरेक विचार के साथ पर्व है ।

जैन धर्म का यह पर्युषण पर्व आपके सामने आनन्द की रस धारा लेकर आया है । इसके पीछे कोई रुपये पैसे का या लोभ का आनन्द नहीं है । दिवाली आई, आपने दिए जलाए, एक रुपया निकाला, पूजा की, दक्षिणा दी और लक्ष्मी जी को मस्तक झुका दिया कि तुम मेरी देवता हो, मैंने तुम्हें सर्वस्व अर्पण किया है । इसी प्रकार किसी अन्य पर्व पर शरीर की रक्षा के लिए किसी और देवता को प्रसन्न किया । सौभाग्य से कमाई करने लगे । तो यह रुपये पैसे का आनन्द है । इस आध्यात्मिक पर्व की, पर्युषण पर्व की विलक्षणता कुछ और ही है । इस आनन्द को रुपये पैसे की झंकार में रहने वाले लोग ही सम्भव है, अच्छी तरह न जान सकें । जो शरीर की मोह-माया में रचे-पचे रहते हैं, जरा सी देर में हँसते हैं, जरा सी देर में रोते हैं, जरा कुछ मिल गया तो उछलने लगे, खो गया तो रोने लगे, वे सम्भव है कि इस जीवन की महान् ऊँचाइयों को न छू सकें ।

भारतवर्ष के मनीषियों ने शान्त रस को रसराज कहा है । एक श्रृंगार रस भी है, वीर रस भी है और करुण आदि मिलाकर नौ रस हैं, पर भारतवर्ष के साहित्य में महाराज, रस का राजा शान्त रस ही माना गया है । पर्युषण पर्व इसी शान्त रस की धारा है । इसका स्वाद भगवान् महावीर ने लिया था, गणधर गौतम की आत्मा ने, अतिमुक्त कुमार और गजसुकुमार ने इस धारा में अवगाहन किया था । वह गौतम, जो विशाल ज्ञान का देवता एड़ी से चोटी तक ज्ञान के सागर में डूबा फिर रहा था, लाखों करोड़ों की भेंट जिसे अर्पण की गई थी, हजारों जिज्ञासु जिसके पीछे-पीछे चल रहे थे, लेकिन उसे भी जब आत्म ज्ञान, सच्चा ज्ञान हुआ तो हजारों लाखों अनुयायियों और शिष्यों की परवाह छोड़कर भगवान् महावीर के शान्त रस के सागर में विलीन हो गया ।

इसी रस का आनन्द लेने हेतु एक दिन जम्बू कुमार भी चल पड़े उस ओर । लाखों करोड़ों का उनका वैभव था । विवाह हुआ तो ६६ करोड़ की सम्पत्ति तो उन्हें दहेज में ही मिल गई । इस पर से अन्दाज लगाया जा सकता है कि उनकी सम्पत्ति कितनी विशाल होगी । विशाल वैभव, हीरे मणि-माणिक की चमक और उन स्वर्ण-महलों को छोड़कर एक दिन चुपचाप नंगे सिर, नंगे पैर एक भिक्षु का रूप बना कर अपना सर्वस्व समर्पण कर देते हैं । गुरु के चरणों में; तो हम विचार कर सकते हैं कि यह त्याग और वैराग्य का आध्यात्मिक रस कितना महान् है ? इस पर्व के सम्बन्ध में हमारे महर्षि आवाज लगा रहे हैं यही जीवन का आनन्द है, जरा आगे आओ और इसका पान करो ।

भारतीय सन्त साहित्य में तीन मकोड़ों की कथा चलती है । कहते हैं, तीन मकोड़े-चींटे भोजन की तलाश में चल पड़े । ये तीनों ही साथी जब से निकले, नगर ग्राम में घूमते रहे पर कहीं कुछ प्राप्त न हो सका उन्हें । रोटी की तलाश में चक्कर काटते-काटते आगे बढ़े तो उन्हें एक वृक्ष मिला । वह वृक्ष था नीम का । उस पर चढ़ना शुरू किया । एक तो उसकी जड़ पर ही घूमने लगा । सोचने लगा कि कहाँ से चढ़ूँ और कैसे बढ़ूँ ? दूसरे ने जरा हिम्मत की और थोड़ा आगे बढ़ गया । कुछ दूरी पर जाकर वह भी अटक गया । तीसरा था अनुगामी । वह द्रुतगति से बढ़ रहा था, तेजी से चढ़ रहा था । वह टहनियों तक पहुँचा, पत्तों तक पहुँचा, निबौरियों तक पहुँच गया । निबौरियाँ पक चुकी थीं, उनमें रस पैदा हो चुका था, नीम की कड़वाहट मधुरता में परिणत हो चुकी

थी । ज्यों ही उसने मुँह मारा उन पर उसका मुँह मधुरता से, मिठास से भर गया । वह वहीं जम कर रसपान करने लगा । उस रसपान में अपने दूसरे साथियों को सम्मिलित करने के लिए उसने आवाज लगाई । उसने कहा कि साथियो ! इधर-उधर कहाँ भटक रहे हो ? आओ, ऊपर आओ । मैंने तो अमृत का, मिठास का झरना प्राप्त कर लिया है । इसमें इतना आनन्द है, इतना रस है कि कुछ पूछो ही नहीं । यह आवाज उसके उस दूसरे साथी ने सुनी जो बेचारा अभी पत्तों तक ही पहुँच पाया था, पत्तों के बीच ही घूम रहा था । उसने उसके कहने पर पत्तों में मुँह मारा । पत्ते तो कड़वे थे ही, अतः मुँह कड़वाहट से भर गया । उसने पहले साथी से कहा—“झूठे, मक्कार कहीं के, मजाक करता है तू मेरी ? तू कहता है कि यह वृक्ष अमृत का विराट् सागर है, मार्धुय का सागर है । कहाँ है वह मिठास ? यह तो कड़वा जहर है, मेरा तो सारा मुँह कड़वा हो गया । तू झूठ बकता है नालायक ! ऐसी हँसी नहीं किया करते साथियों से ।” अब तीसरा जो नीचे ही नीचे जड़ में ही घूम रहा था, पेड़ के मूल में ही चक्कर काट रहा था । उसने जब पहले साथी की आवाज सुनी कि यह वृक्ष अमृत का झरना है तो उसने भी मुँह मारा उस जड़ पर । आप जानते हैं कि पेड़ के मूल में मोटी-मोटी छाल होती है । ज्यों ही उसने मुँह मारा, उसका मुँह कड़वाहट से तो भरा ही पर वह कुचल भी गया उस छाल के कारण । अब उसे उसमें रस तो क्या मिलता, वह दन्त शून्य और हो गया । उसने कहा अपने पहले साथी से कि तुम कितने झूठे हो ! यह वृक्ष कड़वाहट से ही नहीं बल्कि कठोरता से भी भरा है और इसे अमृत का सागर बता रहे हो ? कैसे विश्वास कर लूँ तुम्हारी बात पर ? इस प्रकार दोनों वाक् युद्ध करने लगे । इन दोनों को लड़ते देख बीच वाला मकोड़ा बोला जिसने कि पत्तों में मुँह मारा था । उसने कहा—“तुम दोनों ही झूठे हो । क्यों झगड़ रहे हो ? यह वृक्ष न तो मीठा है और न कठोर । है तो मुलायम पर कड़वा अवश्य है । सही बात को क्यों नहीं समझते ? क्यों संघर्ष पर तुले हुए हो ?” तो मैं आपसे पूछूँ कि वह चींटा, जो बहुत ऊँचाई पर चढ़ गया था और जिसने पके हुए मधुर फलों से सम्पर्क साध लिया था, वह जो कुछ भी कह रहा है, सच कह रहा है या झूठ ? और पत्तों का स्वाद लेने वाला वृक्ष को कड़वा जहर बता रहा है तो सच कह रहा है या झूठ ? और तीसरे बेचारे ने नीचे जड़ पर ही मुँह मार दिया

था तो वह भी सच कह रहा है या झूठ ? कहिए ? अपनी-अपनी परिभाषा से तो सच ही कह रहे हैं बेचारे ! तो बस, यह अपनी-अपनी भूमिका की बात है, अपनी-अपनी अवस्था की और मंजिल की बात है । जिनकी मंजिल नीची है, जो जीवन की छोटी-छोटी मंजिलों पर ही घूम रहे हैं, जिनकी भूमिकाओं का विकास नहीं हुआ है, जो राग द्वेष को, मोह-माया की, धन-वैभव की, संसार के स्वार्थों की भूमिका पर से गुजर रहे हैं, वे आध्यात्मिक ऊँचाइयों पर नहीं पहुँचे हैं और इस जीवन के सम्बन्ध में भ्रान्तिपूर्ण बातें कर रहे हैं । पर आध्यात्मिक जीवन का वह विराट् सन्त अमर महापुरुष अपने जीवन की अनन्त ऊँचाइयों पर पहुँच कर संसार के प्राणियों को आवाज लगाकर कहता है—“संसार में भटकने वाले प्राणियो ! जीवन की ऊँचाई पर आओ, अध्यात्म की अनन्त दिव्य शक्ति तुम्हें प्राप्त होगी । अहिंसा और सत्य को लक्ष्य करके आगे बढ़ो । इस समता में, सामायिक में कितनी मधुरता, कितना मिठास है ! इस आध्यात्मिक जीवन की साधना में कितना आनन्द है, यह मैं तुम्हें कैसे बताऊँ ? जब तक तुम स्वयं आगे नहीं बढ़ोगे तब तक आगे की मंजिल प्राप्त नहीं कर सकोगे । आध्यात्मिक ऊँचाई पर पहुँचे बिना सामायिक का आनन्द कैसे मिलेगा ? आप सामायिक करते हैं । कोई पूछे कि आपको वह आनन्द प्राप्त हुआ ? आप कहेंगे कि प्राप्त नहीं हुआ । तप में भी आनन्द नहीं मिला । आप आध्यात्मिक जीवन और साधना की बड़ी-बड़ी बातें करते हैं पर कुछ पाया है आपने ? कुछ भी नहीं । इस समस्या का हल कैसे हो ? जब तक नीचे वाला चींटा, नीची भूमिका पर रहने वाला हमारा साथी आगे बढ़कर प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ न करे, चिन्तन की गहराइयों और मनन की ऊँचाइयों को लेकर आगे न बढ़े, तब तक इस अमृत-सागर का आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता ।

संसार का लाखों हजारों वर्ष का इतिहास आप पढ़ जाइए पर जैन धर्म के इस आध्यात्मिक पर्व के समान दूसरा पर्व आपको और कहीं नहीं मिलेगा । कहीं तलवार की पूजा का पर्व होता है, कहीं लक्ष्मी-पूजा का पर्व मनाया जाता है, कहीं खाने पीने और मौज-मजे उड़ाने का पर्व आता है तो कहीं शरीर की पूजा करने का पर्व होता है । लेकिन मैं कह रहा था कि यह वह पर्व है, जो इन सबसे ऊपर उठा है । शरीर और इन्द्रियों से ऊपर उठा है, तलवार, लक्ष्मी-पूजा, संसार के भौतिक ऐश्वर्य और विलासों से भी आगे बढ़ गया है । यह आत्मा का पर्व है । आत्मा

के लिए आत्मा की उपासना करना अपने ही स्वरूप के चिन्तन में अपने आपको लगाकर तदाकार कर लेना, अपने आपको आत्मा के अनन्त आनन्द सागर में उतारना ही इसका ध्येय है । यह तपस्या और धर्म ध्यान भी इसी भावना की प्रेरणा है ।

तो पर्युषण पर्व का अर्थ क्या है ? इसका अर्थ है आत्मा का आत्मा के समीप रहना । मतलब यह है कि आत्मा मूल में परमात्मा है, आत्मा मूल में ईश्वर-भाव है । आत्मा अपने आप में हिंसा नहीं, अहिंसा है । आत्मा अपने आप में असत्य नहीं, सत्य है । आत्मा अपने आप में वासना नहीं, विकार नहीं, परन्तु अखण्ड ब्रह्मचर्य है । आत्मा अपने आप में क्रोध नहीं, क्षमा है । आत्मा अपने आप में अहंकार नहीं, नम्रता है । आत्मा अपने आप में विकृति नहीं, धोखा धड़ी और फरेब नहीं, परन्तु सीधी सरलता है । सात्त्विक सौम्यता है । इसी प्रकार आत्मा-आत्मा अपने आप में लोभ, मद, मोह, माया नहीं, परन्तु आनन्द, सन्तोष, त्याग और वैराग्य है ।

आत्मा के दो रूप हैं । एक आत्मा का मूल रूप है जो कि सद्गुणों के रूप में है, सद्भावनाओं के रूप में है, तप और त्याग के रूप में है, वह आत्मा का ईश्वरीय रूप है । दूसरा आत्मा का बहिर्मुख रूप है, जहाँ कभी क्रोध आता है, कभी अभिमान आता है, कभी माया आकर अपने पैर फैलाती है और कभी लोभ अपना आसन जमाने का प्रयत्न करता है । इन विकारों और वासनाओं के जंगल में आत्मा भटक जाती है, कभी-कभी । इस अन्तरंग-जीवन का नाम है आध्यात्मिक जीवन और बाह्य-जीवन का नाम है भौतिक जीवन । जब हम बाह्य जगत् से अलग होकर अन्तर्मुखी हो जाते हैं, क्रोध से क्षमा में चले जाते हैं, हिंसा से अहिंसा में चले जाते हैं, विषय वासनाओं से ब्रह्मचर्य में चले जाते हैं, अभिमान से बच कर नम्रता में पहुँच जाते हैं, संसार की माया में से, इन प्रपंचों और दुखों में से निकल कर सात्त्विकता, सद्भावना और सरलता से प्रविष्ट होते हैं तो इसका नाम है पर्युषण पर्व । जब हम लोभ लालच में से निकल कर सन्तोष में अपने आपको रमा लेते हैं, खाने, पीने और पहिने की, श्रृंगार की, अन्तर्विकारों की एवं इसी प्रकार संसार की अन्य वासनाओं से निकल कर अन्तरंग आत्मा में पहुँचते हैं तो उसका नाम है आध्यात्मिक पर्व । पर्युषण पर्व का अर्थ क्या हुआ ? अपनी आत्मा में रमना, अपनी आत्मा में डूब जाना, अपनी आत्मा में विलीन हो जाना । आत्मा में लीन होने का अर्थ है, परमात्म स्वरूप में लीन होना ।

पर्युषण पर्व हमारे सामने एक महत्त्वपूर्ण सन्देश लेकर आया है कि मनुष्य तू इस संसार में रह रहा है । तेरा जीवन इन संसारों की यात्राओं में चल रहा है । जब तू संसार में यात्रा करने के लिए निकला, साधु बनकर या श्रावक बन कर चला, लेकिन मार्ग में आने वाले शूलों और कँटीले झाड़-झखाड़ों से तुम्हारा यह जीवन छिद गया है । साल भर की यात्रा के बाद, आज इस पर्युषण पर्व पर तुझे कुछ देर के लिए अपनी यात्रा का जोश रोककर पिछली यात्रा के बारे में सोचना चाहिए, आलोचना करनी चाहिए । अपने मन के विकारों को छँटकर मन को साफ करना चाहिए । सम्भव है यह काँटा कभी माता-पिता के साथ संघर्ष होने में लग गया हो, अपने भाई-बन्धुओं के साथ संघर्ष में राग और द्वेष का कोई काँटा लगा हो, पति-पत्नी के आपसी संघर्ष में घृणा, वैर या क्रोध का काँटा लगा हो, अपने किसी साथी, पड़ोसी या संसार के अन्य किसी प्राणी के साथ लड़ाई झगड़े या वैमनस्य में हिंसा, चोरी, राग, द्वेष का काँटा लग गया हो, मन में कोई पापाचरण का काँटा या दोष लगा हो तो आज शान्ति के साथ बैठकर सोचो । उन काँटों को निकाल कर बाहर करो और अपने मन को निर्मल बना लो । यदि आपने जातीयता या खानदान की दृष्टि से या ज्ञान, ध्यान, त्याग, वैराग्य के क्षेत्र में अपने आपको ऊँचा समझते हुए, दूसरों को छोटा समझकर मन में अहंकार का काँटा चुभा लिया है, धार्मिक क्षेत्र में सामायिक, साधना, दान, तप की आराधना के समय, ज्ञान के संसार में, व्यापार में जो भी शूल मानस में प्रविष्ट हुए हैं, आज का दिन उन्हें दूर करने के लिए है । कल के सूर्य से आपकी आगे की मंजिल की, अगले वर्ष की यात्रा प्रारम्भ हो रही है । चाहे आप किसी भी क्षेत्र में रहें, पर अपनी इस यात्रा के लिए पूरी तैयारी करें, सावधान बनें, जो भूलें पहले हो गई हैं, उन्हें यहीं समाप्त कर दें और आगे के लिए उन्हें न दोहराने की दृढ़ प्रतिज्ञा कर लें । इस प्रकार जीवन की उस महान् मंजिल को, उस परमात्म-पद को पाने के लिए हमें आगे बढ़ना है और उस परमलक्ष्य को प्राप्त करना है । जो इस लक्ष्य को प्राप्त करेगा, उसे जीवन में आनन्द, मंगल, सुख-शान्ति और प्रेम की लहरें प्राप्त होंगी ।



वैराग्य मूर्ति : गौतम कुमार

यह अन्तकृत-दशा सूत्र है । भगवान् महावीर की द्वादशांग वाणी में यह आठवाँ अंग सूत्र है । इसमें उन महान् आत्माओं के जीवन का वर्णन है, जिन्होंने अपने साधक जीवन के अन्त में आमरण तपः साधना करके संसार का अन्त किया था । इसी आधार पर इसे अन्तकृत सूत्र कहा जाता है । इसके मूल उपदेशक भगवान् महावीर हैं, फिर भी इसके प्रारम्भ में प्रवक्ता आर्य सुधर्मा और श्रोता आर्य जम्बू हैं । इसका कारण यह है कि आर्य सुधर्मा को भगवान् महावीर से जो श्रुत उपलब्ध हुआ था, उसकी सर्वप्रथम उपदेशना उन्होंने अपने प्रिय शिष्य जम्बू को दी थी । अतः इस अन्तकृत सूत्र के प्रवक्ता आर्य सुधर्मा हैं और श्रोता आर्य जम्बू हैं ।

भगवान् महावीर

जैन परम्परा के अनुसार जिन शासन के अन्तिम उपदेष्टा और चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर थे । समस्त तीर्थंकरों में महावीर ने सबसे अधिक घोर तप की साधना की थी । अतः बौद्ध पिटकों में इन्हें दीर्घ तपस्वी कहा गया है । भगवान् साधना क्षेत्र में वीरों के भी वीर थे, इसीलिए इन्हें महावीर कहा जाता है । जैन परम्परा के वर्तमान काल तक प्रवाह प्राप्त समग्र श्रुत साहित्य का मूल उद्गम स्थान महावीर को माना गया है । भगवान् महावीर का समस्त आचार, समग्र विचार और सम्पूर्ण विश्वास जिसमें सुरक्षित है, उसे द्वादशांगी वाणी कहा जाता है । शेष समस्त विस्तार इसी का है । द्वादशांगी वाणी के अर्थ रूप में प्रवक्ता भगवान् महावीर ही हैं । परन्तु उस वाणी को सूत्र एवं शब्द का आकार गणधरों ने दिया है ।

आर्य सुधर्मा

भगवान् महावीर के ग्यारह गणधर थे । गण एवं गच्छ को धारण करने वाला गणधर कहा जाता है । तीर्थंकर किसी पर शासन नहीं करता । वह उपदेश तो देता है, पर किसी को आदेश नहीं देता । गण एवं गच्छ को सन्मार्ग पर चलाने के लिए आदेश गणधर ही देता है । अतः तीर्थंकर के द्वारा स्थापित तीर्थ एवं संघ की व्यवस्था करने

वाली शक्ति को गणधर कहा जाना स्वाभाविक है । भगवान के ग्यारह गणधर थे, जिनमें आर्य सुधर्मा पञ्चम गणधर थे । आज जितना भी श्रुत उपलब्ध है, वह सब हमें सुधर्मा से ही मिला है । अतः आर्य सुधर्मा का श्रमण-संस्कृति में बहुत ही गौरवपूर्ण स्थान माना जाता है । इसी आधार पर प्रस्तुत अन्तकृत् सूत्र के प्रवक्ता आर्य सुधर्मा को माना गया है ।

आर्य जम्बू कुमार

जम्बू कुमार को श्रमण-संस्कृति में अनासक्त योगी, परम वैरागी और परम योगी कहा गया है । अपने विशाल वैभव, विराट ऐश्वर्य, भव्य प्रासादों और मनोहारिणी रमणियों को छोड़कर उन्होंने आर्य सुधर्मा का शिष्यत्व स्वीकार किया था । राजगृही नगरी के ये उस युग के धन कुबेर थे । एक बार आर्य सुधर्मा की दिव्य वाणी सुनकर, और भव के विभव-भावों से विमुक्त होकर साधना के कठोर मार्ग पर चल पड़े । उन्होंने संयम की, साधना की और अन्त में विमल कैवल्य की ज्योति प्राप्त की एवं प्रस्तुत अवसर्पिणी काल के चरम केवली हुए ।

अन्तकृत् का कथासूत्र

उस काल और उस समय में, जबकि जैन काल-गणना की दृष्टि से अवसर्पिणी काल का चतुर्थ आरा चल रहा था और चरम तीर्थंकर भगवान महावीर इस जगती-तल पर जगत के जीवों को आत्म-कल्याण के लिए मधुर देशना से जागृत कर रहे थे । उस युग की बातें मैं आपसे कर रहा हूँ, जिसे श्रद्धा-शील भारतीय जनता सत्य-युग और धर्म-युग के नाम से सम्बोधित करती है । अन्तकृत् सूत्र का सबसे पहला वाक्य है—“तेणं कालेणं तेणं समयेणं चम्पा णामं नयरी होत्था ।”

उस युग में भारत की अन्य नगरियों में चम्पा नगरी भी थी, जो विशाल, विराट और सर्व प्रकार से समृद्ध थी । जैन साहित्य में और बौद्ध साहित्य में इसका सुन्दर वर्णन उपलब्ध होता है । चम्पा नगरी के उत्तर-पूर्व दिशा-भाग में एक अत्यन्त रमणीय सुन्दर उपवन था, जिसे लोग पूर्ण भद्र चैत्य कहा करते थे । आगे का कथा-सूत्र है—“तीसेणं चंपाए नयरीए कोणिए नामं राया होत्था ।” भारत के प्राचीन इतिहास के अनुसार चम्पा नगरी अंग देश की राजधानी थी । अंग देश का सम्राट्

था कोणिक । इतिहासकार कोणिक को अजात शत्रु भी लिखते हैं । कोणिक भगवान महावीर का परम भक्त एवं उपासक था । कोणिक के जीवन के विषय में आगमों में अनेक स्थलों पर अनेक प्रकार के वर्णन उपलब्ध होते हैं । मैं आपसे कह रहा था कि अजात शत्रु कोणिक श्रमणों का उपासक और भक्त था । अवसर मिलने पर उनका उपदेश सुनता था ।

एक बार एक ग्राम से दूसरे ग्राम में विहार करते हुए आर्य सुधर्मा अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ चम्पा नगरी में पधारे । वे चम्पा नगरी के पूर्ण भद्र चैत्य उपवन में विराजित हुए । नगर की जनता में यह समाचार बिजली की तेजी से फैल गया और हजारों लोग उनके दर्शन के लिए और उनकी मधुर वाणी को सुनने के लिए आने जाने लगे । एक दिन अवसर पाकर अन्तेवासी आर्य जम्बू अपने सद्गुरु सुधर्मा के चरणों में उपस्थित होकर बोले ।

जम्बू की जिज्ञासा

“भदन्त ! भगवान महावीर की द्वादशांग वाणी में से सप्तम अंग उपासक दशा का उपदेश मैंने आपसे सुना । उसके दिव्य भावों को मैंने ग्रहण कर लिया । परन्तु अब मैं आपसे अष्टम अंग अन्तकृत् के विषय में जानना चाहता हूँ । अर्हन्त यावत् मोक्ष को संप्राप्त श्रमण भगवान महावीर ने अष्टम अंग की उपदेशना किस प्रकार दी है और उसमें क्या है ?”

आर्य सुधर्मा ने कहा—“वत्स ! मोक्ष को संप्राप्त श्रमण भगवान महावीर ने अष्टम अंग सूत्र अन्तकृत् दशा के अष्ट वर्ग प्रतिपादित किए हैं । प्रत्येक वर्ग के अलग-अलग अध्ययन कहे हैं । प्रत्येक अध्ययन में एक-एक महान साधक आत्मा के जीवन का सुन्दर एवं मधुर वर्णन किया गया है । अन्तकृत् सूत्र के प्रथम वर्ग के दस अध्ययन कहे हैं, जो इस प्रकार हैं—गौतम, समुद्र, सागर, गम्भीर, स्थिमित, अचल, कम्पित्य, अक्षोभ, प्रसेन और विष्णु ।” अन्तकृत् सूत्र के प्रथम वर्ग के प्रथम अध्ययन का वर्णन इस प्रकार है ।

द्वारिका नगरी

अन्तकृत् सूत्र में नेमि-युग के और महावीर-युग के साधकों के जीवन

का वर्णन उपलब्ध होता है । प्रथम वर्ग से लेकर पञ्चम वर्ग तक नेमि-युग है और षष्ठ से लेकर अष्टम वर्ग तक महावीर-युग है । यह कहानी उस युग की है, जब भगवान नेमिनाथ इस धरती तल पर विश्वात्माओं को आत्मकल्याण की देशना कर रहे थे और वासुदेव श्रीकृष्ण द्वारिका नगरी में राज्य कर रहे थे । द्वारिका नगरी सर्व प्रकार से सुन्दर एवं समृद्ध थी । वह बारह योजन लम्बी और नव योजन चौड़ी थी । स्वयं धनपति कुबेर ने उसकी रचना की थी । उसका परकोटा सुवर्ण का था और उसके कंगूरे पाँच वर्ण के रत्नों से जड़ित थे । वह अत्यन्त रम्य और देवनगरी अलका से सदृश थी । द्वारिका नगरी दर्शनीय अभिरूप और प्रतिरूप थी । द्वारिका नगरी के उत्तर-पूर्व के दिशा भाग में रैवत पर्वत था, उस पर एक नन्दन वन था, उसमें एक यक्षायतन था, जो चारों ओर से एक सुन्दर उपवन से आवृत्त था । उसके मध्य में एक अशोक वृक्ष था । एक बार विहार करते-करते भगवान अरिष्टनेमि द्वारिका पधारे और रैवत चल पर नन्दनवन में अशोक वृक्ष के नीचे समवसरण लगा, जिसमें द्वारिका नगरी के हजारों लोग भगवान का दर्शन करने और देशना सुनने आने-जाने लगे । भगवान के पधारने से नगरी की जनता को आत्मकल्याण की प्रेरणा मिली ।

वैराग्यमूर्ति गौतम

द्वारिका नगरी में अन्धकवृष्णि राजा थे और धारिणी उनकी रानी थी । एक बार रात्रि में अपनी शय्या पर सोती हुई रानी धारिणी ने एक शुभ स्वप्न देखा । भगवती सूत्र में वर्णित महाबल कुमार की तरह से ही यहाँ पर गौतम का जन्म, बाल्य-काल और कला-शिक्षा का क्रम एवं वर्णन समझ लेना चाहिए । संक्षेप में कथा-सूत्र है—“जोबण पाणिगाहणं कन्ता पासाय भोगाय ।” यौवन-काल आने पर गौतम का विवाह किया गया । उसके रहने के लिए सुन्दर-सुन्दर प्रसादों का निर्माण किया गया, जिनमें रहकर वह अपना जीवन सुख में व्यतीत करने लगा । भोग और विलास की रंगीन दुनिया में वह लीन हो गया । भोगवाद की मत्त करने वाली मधुर मदिरा में वह इस प्रकार बेभान हो गया कि उसे यह भी पता नहीं था; सूर्य किधर उदय होता है और किधर अस्त होता है ।

एक बार भगवान् अरिष्टनेमि विहार करते-करते द्वारिका नगरी पधारे । रैवतगिरि के नन्दनवन में उनका समवसरण लगा । द्वारिका

नगरी के नागरिक भगवान का उपदेशामृत सुनने के लिए गये । गौतम ने भी भगवान् के दर्शन करने की और वाणी सुनने की भावना की । ज्ञाता सूत्र में वर्णित मेघकुमार के समान गौतम कुमार भी भगवान् अरिष्टनेमि का प्रवचन सुन कर आत्म-विभोर हो गया । अध्यात्म-भावना उसके मन में जागृत हो गई । जिस संसार को वह आज तक सुखमय समझ रहा था, आत्म-विवेक होने पर अब वह उसी संसार को बन्धन समझने लगा; दुःखमय समझने लगा । गौतम ने भगवान् से इस प्रकार निवेदन किया—

“प्रभो ! आपका प्रवचन सुन्दर है, मधुर है और सरस है । वह मेरे मन के कण-कण में रम गया है । मैं उस पर विश्वास करता हूँ, प्रतीति करता हूँ और श्रद्धा करता हूँ । मेरी यह अभिलाषा है कि मैं आपके श्री चरणों में रहकर संयम की साधना करूँ । मैं अपने माता और पिता से अनुमति लेकर दीक्षा ग्रहण करूँगा ।” गौतम कुमार जो अभी तक भोगवादी था, त्याग-धर्म से प्रभावित होकर अपने घर लौटा और अपने माता-पिता से संयम-साधना की अनुमति माँगी । जैन परम्परा के अनुसार जब तक साधक अपने अभिभावकों से अनुमत न हो जाए, तब तक दीक्षित नहीं बन सकता । यह नहीं कि कोई भी आ जाए और झट से मुण्डित हो जाए । अतः आज्ञा के बिना न तो दीक्षित होने वाला दीक्षा ही ग्रहण कर सकता है और न ही गुरु उसे अपना शिष्य बना सकता है । यही कारण है कि शास्त्रों में जहाँ कहीं दीक्षा का वर्णन आया है, वहाँ माता-पिता और अभिभावकों से अनुमति प्राप्त करने का स्पष्ट उल्लेख है । आज की बात मैं आप से नहीं कह रहा हूँ । आज की स्थिति बड़ी विचित्र है । आज तो इधर आया, उधर मुड़ा । बात स्पष्ट कह दूँ तो सम्भवतः आज के धर्मगुरु रुष्ट हो जाएँ । दीक्षा लेना बुरा नहीं है । संयम की साधना करना बहुत अच्छा है । किन्तु जिस पद्धति से आज शिष्य बनाया जाता है अथवा गुरु बनाया जाता है, वह मुझे पसन्द नहीं । उसमें दोनों तरफ प्रलोभन दृष्टिगोचर होता है । आज प्रायः दीक्षा के महत्त्व को न देने वाला समझता है और न लेने वाला । फलतः दोनों का ही जीवन शून्य रहता है ।

परन्तु प्राचीन काल की व्यवस्था और पद्धति बहुत सुन्दर थी । अभिभावकों की अनुमति मिलने पर साधक अपने जीवन को गुरु के चरणों

में अर्पित कर देता था । शास्त्र पाठ है—“संजमेण तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ।” संयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करके वह ज्ञान की साधना में लीन हो जाता था । गुरु के सान्निध्य में रह कर शिष्य एकादश अंगों का अथवा चतुर्दश पर्वों का अध्ययन और मनन करता था । तभी तो उस साधक के जीवन में ज्योति प्रकट होती थी । इस प्रकार के जीवन को ही वस्तुतः सच्चा साधक-जीवन कहा जाता है ।

ज्ञान और तप

ज्ञान और तप दोनों ही पवित्र हैं । जीवन की कालिमा को धोने में दोनों ही समर्थ हैं । किन्तु सवाल है कि पहले कौन और पीछे कौन ? पहले ज्ञान अथवा पहले तप ? निश्चय ही सवाल बड़ा पेचीदा है । आप अपने मन में सोचते होंगे कि महाराज क्या निर्णय देते हैं । परन्तु मैं कहता हूँ कि निर्णय देने का सवाल ही नहीं उठता । शास्त्र में वह निर्णय कर दिया गया है । शास्त्र कहता है—पहले अध्ययन, फिर तप । बात यह है कि भारत की साधना बहुत बड़ी साधना है । उसका ज्ञान-योग भी ऊँचा है और उसका कर्म-योग भी बहुत ऊँचा है । भारतीय संस्कृति में ज्ञान और कर्म दोनों को महत्त्व मिला है । फिर भी मुझे स्पष्ट कहना चाहिए कि यदि दोनों में क्रम दिया जाए तो पहले ज्ञान होगा, फिर कर्म होगा । पहले विचार होगा, फिर आचार होगा । इस विषय में भगवान महावीर ने कहा था—“पढमं नाणं तओ दया ।” पहले आँखें खोलो, ज्ञान प्राप्त करो कि तुम कौन हो ? संसार में तुम्हारा आगमन किस लिए हुआ है ? तुम्हारे सामने साधना का मार्ग कैसा है ? और तुम उसे कैसे प्राप्त कर सकते हो ? बिना विचार और विवेक के यह सब काम नहीं हो सकता है । अतः पहले विवेक प्राप्त करो, फिर तुम साधना के मार्ग पर चलकर जो भी तप करोगे, साधना करोगे, वह आत्म-कल्याण के लिए होगी । जो आत्मा अज्ञानी है, जिसको पता नहीं कि मैं कौन हूँ ? संसार क्या है ? यह भी पता नहीं है कि अशुद्ध दशा क्या है और शुद्ध दशा क्या है ? जो आत्मा और परमात्मा के रहस्य को नहीं जानता, वह कभी भी आत्म-कल्याण नहीं कर सकता । विमल विवेक से ही जीवन का रहस्य ज्ञात हो सकता है । किसी अनुभवी कवि ने कहा है—

“देखा-देखी साधे जोग,
छीजे काया बाधे रोग ।”

जो देखा-देखी साधना करता है, उसका शरीर ही छीजता है । साधना का आनन्द वह प्राप्त नहीं कर सकता । संसार में जितने भी साधक हुए हैं, उन्होंने पहले अपने गुरु के चरणों में बैठकर अध्ययन किया है । वह अध्ययन क्या है ? वह अध्ययन है भेद विज्ञान का । यह शरीर और है और आत्मा और है । दोनों एक नहीं हैं, क्योंकि दोनों का स्वभाव सर्वथा भिन्न है । देह और देही का भेद विज्ञान हो जाने पर ही साधना सफल होती है । मैं आप से गौतम कुमार की बात कर रहा था । उस गौतम कुमार की, जो द्वारिका नगरी का रहने वाला था, परन्तु भगवान् अरिष्टनेमि की वाणी सुनकर प्रबुद्ध हो गया था और उनके मार्ग पर चलने को तैयार हो गया था । कथा सूत्र है—

“अणगारे जाए, इरिया समिए जाव निगगंथं पुरओ काउ विहरइ ।”

माता और पिता की अनुमति मिलने पर गौतम कुमार भगवान् के श्रीचरणों में दीक्षा लेकर साधना में लग गया । भिक्षु बन कर उसने क्या किया ? यह प्रश्न सहज है । आगे का कथा सूत्र इस प्रकार है—

“अरिट्ठनेमिस्स थेराणं अन्तिए सामाइयमाइयाइं एक्कारस्स अंगाइं अहिज्जइ, अहिज्जित्ता बहूहिं चउत्थ जाव अण्णाणं भावेमाणे विहरइ ।”

अरिष्टनेमि भगवान् के स्थविरो के पास रहकर गौतम कुमार ने पहले ग्यारह अंगों का अध्ययन किया, अध्ययन करके विविध प्रकार का तप किया । अपनी आत्मा को पावन एवं पवित्र बनाया । अध्ययन और तप करते हुए राजकुमार गौतम द्वारिका नगरी में विहार भी करते रहे, दूर देशों में घूमते रहे । एक राजकुमार होकर, दूर देशों में नंगे सिर और नंगे पैर घूमना साधारण बात नहीं है । कुसुम जैसे कोमल पैरों में तीखे काँटे लगते होंगे । भूख और प्यास भी लगती होगी । यह साधना तलवार की धार पर चलना है । “असि-धारा-व्रतम् ।” शरीर साधने से पहले मन को साधना बहुत आवश्यक है । गौतम ने मन के साथ में शरीर को भी साधा था । राजकुमार गौतम कठिन साधना के मार्ग पर अन्त तक चलते रहे । वह एक ऐसा प्राणवन्त साधक था कि घर छोड़ा तो कभी घर की याद नहीं की । काँटों की राह पर चलता रहा । दुःख-पीड़ाएँ आती रहीं और जाती रहीं । परन्तु गौतम कुमार अचल हिमालय की भाँति अडिग और अडोल रहा । साधना के मार्ग पर उसके कदम निरन्तर आगे बढ़े, पीछे नहीं हटे । वह अपनी अध्यात्म-साधना

में इतना लीन और एकाग्र था कि उसे यह भी पता नहीं रहा कि मैं द्वारिका का राजकुमार हूँ और मैंने भोग विलासमय जीवन व्यतीत किया है । अब इस कँटीले मार्ग पर कैसे कदम रखूँ ? वह सिंह के समान आगे बढ़ता ही रहा ।

भिक्षु प्रतिमा

एक बार साधक गौतम के मन में विचार आया कि मैं भिक्षु प्रतिमाओं की साधना करूँ । यह साधना, बड़ी कठोर साधना है । यह एक विशेष प्रकार का तप है । कथा-सूत्र है—

“इच्छामिणं भन्ते ! तुभ्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे मासियं भिक्षु-पडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहारेत्तए ।” भगवान् अरिष्टनेमि के श्री चरणों में उपस्थित होकर गौतम ने कहा—“भगवन् ! यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं भिक्षु की प्रतिमाओं की साधना करना चाहता हूँ ।” गौतम ने भगवान् की आज्ञा से भिक्षु की बारह प्रतिमाओं की साधना की । कोई बिरला ही साधक इसकी साधना कर पाता है । भगवती सूत्र में वर्णित स्कन्धक मुनि की भाँति गौतम ने भी क्रमशः द्वादश प्रतिमाओं की कठोर साधना की ।

व्रत करना कठिन, किन्तु व्रत का पारणा व्रत से भी कठिन माना गया है । यह एक अनुभव की बात है कि मनुष्य तप तो कर लेता है, परन्तु पारणा के दिन जब वह अपने घर पहुँचता है तब पारणा में कुछ विलम्ब होने पर वह उत्तेजित हो जाता है । व्रत में एक दो दिन निकालना उसके लिए आसान था, पर व्रत के पारणा के दिन एक पल का भी विलम्ब वह सहन नहीं कर सकता । उसके धैर्य का बाँध टूट जाता है । तप की बात सुनना आसान है, पर जीवन में उतारना बड़ा कठिन है । तप का अर्थ है—इच्छाओं का दमन । जिसने अपनी इच्छाओं का दमन किया, वही सच्चा तपस्वी है ।

गुणरत्न तप

मैं आपसे कह रहा था कि गौतम कुमार जितना सुकुमार था, उतनी ही अधिक उसने तपस्या की । भिक्षु की द्वादश प्रतिमाओं की साधना करने के बाद उसने गुणरत्न तप की साधना प्रारम्भ की । भगवती सूत्र में वर्णित स्कन्धक मुनि के समान गौतम मुनि ने भी अधिक उग्र तप करने का संकल्प किया । संकल्प में अपार बल होता है । शरीर में

बल न होने पर भी यदि संकल्प में बल है तो वह कार्य अवश्य ही पूरा होता है । मनुष्य के जीवन का उत्थान और पतन उसके अपने संकल्प से ही होता है । विकल्प मनुष्य को पतन की ओर ले जाता है और संकल्प उत्थान की ओर । विकल्प से विनाश “गुण रयण तवोकम्मं फासेइ ।” गुणरत्न तप करने की भावना का गौतम मुनि के मन में उदय हुआ । तप करना बड़ा कठिन है, परन्तु तीव्र वैराग्य तप को सहज एवं सरल बना देता है । शरीर दुर्बल और क्षीण होने पर भी गौतम मुनि ने अपने संकल्प बल से गुण रत्न तप की आराधना और साधना की ।

मासिक संलेखना

जन्म, जीवन और मरण—इन तीन अवस्थाओं में से प्रत्येक संसारी प्राणी को पार होना पड़ता है । तत्त्वदर्शी और अज्ञानी दोनों ही उक्त दशाओं को पार करते हैं । अज्ञानी समझता है—जन्म भी दुःखमय है, मरण भी दुःखमय है । केवल बीच का जीवन ही सुखमय है । इसीलिए वह जीवन के संरक्षण में प्रयत्नशील होता है । जीवन उसे प्रिय होता है । जीवन के वियोग में वह व्याकुल और विकल हो जाता है । परन्तु ज्ञानी जन्म और मरण के समान जीवन को भी दुःखमय ही समझता है । ज्ञानी कहता है कि जन्म भी दुःख है, मरण भी दुःख है, तब दोनों के बीच का जीवन सुखमय कैसे हो सकता है ? जीवन के क्षणिक सुख को भी वह दुःख ही समझता है । अतः जीवन के वियोग काल में भी वह व्याकुल एवं विकल नहीं होता ।

गौतम मुनि ने जन्म भी देखा, जीवन भी जिया और जप-तप की कठोर साधना करते-करते मरण घड़ी नजदीक आई, तब वह जरा भी विकल नहीं बना । गौतम ने सोचा—तप करते-करते शरीर जीर्ण, शीर्ण और क्षीण हो गया है । शरीर की शक्ति क्षीण हो चुकी है । इसका उत्थान, बल, वीर्य और पराक्रम घटता जा रहा है । देह और देही के वियोग का क्षण निकट होता जा रहा है । एक से एक कठिन साधना वह करता गया । एक दिन मन में विचार उठा कि अब शरीर की शक्ति का ह्रास होता चला जा रहा है । देह अब देही का साथ छोड़ने वाला है । चलना और खड़ा होना तो दूर, अब बैठे रहने में भी पीड़ा और व्यथा की अनुभूति होने लगी है । मालूम पड़ा कि मौत नजदीक

आ रही है। संसार का पामर प्राणी जिस स्थिति में परेशान और हैरान हो जाता है, गौतम उस स्थिति में भी प्रसन्न और स्थिर था। एक दिन गौतम गुरु के चरणों में पहुँचा और बोला—

“भगवान् ! अब जीवन का अन्त निकट है। आपकी आज्ञा हो तो संलेखना कर लूँ, संथारा स्वीकार कर लूँ। इस नश्वर देह में जो भी बल, वीर्य और पराक्रम है, उसे सार्थक कर लूँ। इस शरीर को वोसराने के लिए मैं आपकी आज्ञा चाहता हूँ।” अरिष्टनेमि भगवान् ने कहा—“जहासुहं देवाणुषिया ! मा पडिबंधं करेह”। “वत्स ! जैसा तुम्हें सुख हो, वैसा करो।” कथा सूत्र है—“धेरेहिं सद्धिं सत्तुंजं दुरूहइ, मासियाए संलेहणाए बारस वरिसाइं परिताए जाव सिद्धे।” गौतम मुनि भगवान् की आज्ञा प्राप्त करके शत्रुंजय पर्वत पर स्थविरो के साथ में गया और वहाँ पहुँच कर एक मास का संथारा किया। वहाँ एक बड़ी शिला पर आसन लगाकर अपनी आत्मा को परमात्म-स्वरूप में संलग्न किया। ज्योति से ज्योति मिलाने लगे। जो भी कर्म शेष रह गये थे, उन्हें ध्यान की अग्नि में भस्म करने लगे। ज्ञान और ध्यान के बल से संचित कर्मों की निर्जरा की। बँधने वाले नये कर्मों के बन्ध को रोका और उदयावली प्रविष्ट कर्मों को शान्ति के साथ भोगा। इस एक मास की संलेखना में न हिले, न डुले; स्थिर और शान्त रहे ! देह का ममत्व भाव सर्वथा त्याग दिया और सभी कर्मों का अन्त किया। अन्त समय में उसकी आत्मा परमात्म-स्वरूप में लीन बनी रही। वे भव के विभवभावों से विमुक्त हो गए। द्वादश वर्ष तक संयम की कठोर साधना करके सिद्ध हो गए। द्वारिका नगरी का सुकुमार राजकुमार गौतमकुमार अपने लक्ष्य पर पहुँच गया। वह अपनी साधना के द्वारा साधक से सिद्ध हो गया। वह देह-भाव में और आत्म-भाव से परमात्म-भाव में पहुँच गया।

आत्मा और परमात्मा

भारतीय दर्शन में आत्मा और परमात्मा में कोई मौलिक भेद नहीं माना जाता है। आत्मा और परमात्मा में मौलिक भेद नहीं है। जो आत्मा है, वही परमात्मा है। यदि कुछ अन्तर है, तो वह इतना ही है कि आत्मा वह है, जो कर्मों के बन्धन में बँधी पड़ी है। माया और अविद्या में बँधी है। यह दशा है, जब तक वह आत्मा है। जब आत्मा कर्म, माया और वासना के बन्धनों को तोड़ देता है, तब वह परमात्मा बन जाता है। किसी दार्शनिक कवि ने कहा है—

“आत्मा परमात्मा में कर्म ही का भेद है,
काट दे गर कर्म तो फिर भेद है न खेद है ।”

आत्मा और परमात्मा में कर्म का ही भेद है । यदि आत्मा कर्म से विमुक्त हो गया है, तो वह परमात्मा ही है । एक दार्शनिक ने कहा है—

“पाश-बद्धो भवेद्जीवः पाश-मुक्तस्तथा शिवः ।”

जीव और शिव में क्या भेद है ? केवल पाश का, माया का और वासना का । जब तक यह आत्मा माया में बँधी है, जाल में बँधी है, तभी तक वह जीव है । और जब पाश से, माया से मुक्त हो जाती है, तब वही शिव बन जाती है । मुख्य बात है—कर्म, माया, पाश और बन्धन को तोड़ने की । पुराने जो कर्म हैं, उनमें कुछ कर्म प्रारब्ध हैं; वे अवश्य भोगने पड़ते हैं । इन्द्रियों को भोग भोगने पड़ते हैं । सुख और दुःख का भोग समभाव से भोगने पर कर्म नष्ट हो जाते हैं और विषम भाव से भोगने पर फिर बन्ध हो जाता है । बन्ध और निर्जरा प्रतिक्षण होते ही रहते हैं । कुछ कर्म सञ्चित होते हैं, जो अनन्त काल से एकत्रित होकर सत्ता में पड़े रहते हैं । जब वे प्रारब्ध हो जाते हैं तो उन्हें भोगा जाता है, अन्यथा ध्यान और ज्ञान के बल से उन सञ्चित कर्मों को प्रारब्ध में आने से पूर्व ही नष्ट कर दिया जाता है । कुछ कर्म क्रियमाण होते हैं, जो वर्तमान में किए जाते हैं । जैन दर्शन में कर्मों की चार स्थिति होती हैं—बन्ध, सत्ता, उदय और उदीर्णा । आत्मा से परमात्मा बनने का एक ही मार्ग है—संवर की साधना से नये कर्मों को रोका जाये, बद्ध कर्मों की निर्जरा की जाये और उदय में आये हुए कर्मों को समभाव से भोगा जाये ।

मैं आपसे राजकुमार गौतम की बात कह रहा था । गौतम ने संसार भी देखा था और फिर मोक्ष भी देख लिया । उसने भोग भी देखा और योग भी देखा । वह वासना और कामना की ज्वाला में भी जला और फिर यम, दम और संयम की साधना अनन्त शान्ति सुख और आनन्द को भी प्राप्त कर लिया । वह भोग से योग की ओर आया; अशान्ति से शान्ति की ओर आया; मृत्यु से अमृत की ओर आया; असत्य से सत्य की ओर आया । गौतम कुमार मृत्युञ्जयी महापुरुष के चरणों में आकर स्वयं भी मृत्युञ्जयी हो गया । शाश्वत सुख में लीन हो गया । मोक्ष प्राप्त कर लिया ।

शेष अध्ययन

गौतमकुमार की जीवन-गाथा सुनने के बाद आर्य जम्बू ने आर्य सुधर्मा से विनय के साथ निवेदन किया—“गुरुदेव ! आपने अन्तकृत सूत्र के प्रथम वर्ग के प्रथम अध्ययन का जो वर्णन किया, वह मैंने सुनकर ग्रहण कर लिया । उसके शेष अध्ययनों का क्या भाव है ? वह भी सुनना चाहता हूँ ।” आर्य सुधर्मा ने जम्बू की जिज्ञासा के उत्तर में कहा—

“वत्स ! अन्तकृत सूत्र के प्रथम वर्ग के दस अध्ययनों में से प्रथम अध्ययन का वर्णन मैंने तुझे विस्तार से बतला दिया । शेष नव अध्ययनों का वर्णन गौतमकुमार के समान ही है । सबके पिता का नाम अन्धक वृष्णि और माता का नाम धारिणी है । समुद्र, सागर, गम्भीर, स्थिमित, अचल, काम्पिल्य, अक्षोभ, प्रसेन और विष्णुकुमार का जीवन वर्णन भी गौतम कुमार जैसा ही समझना चाहिए । ये सब द्वारिका के रहने वाले थे । सब यादव जाति के थे । सबने भगवान अरिष्टनेमि के पास दीक्षा ली, तपस्या की, साधना की आत्मा की, और अन्त में सबने शत्रुंजय पर्वत पर संथारा किया, कैवल्य प्राप्त किया एवं अन्त में समस्त कर्मों का अन्त करके मोक्ष प्राप्त किया, जन्म-मरण का अन्त किया ।” श्रमणत्व भाव का, साधना का लक्ष्य है—आत्म-कल्याण, आत्म-विकास और आत्म-विशुद्धि । शास्त्र में कहा है—“समयाए समणो होइ ।” समता की साधना से ही सच्चा श्रमण होता है और वही मोक्ष प्राप्त करता है ।

यादव जाति

अभी मैं यादव जाति के राजकुमारों की बात कह रहा था । भारतीय इतिहास की यह एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है कि यादव जाति का प्रारम्भ इस ब्रजभूमि में ही हुआ । परन्तु वैदिक और जैन दोनों ही कथाकार लिखते हैं कि यादव जाति ब्रज से सौराष्ट्र की ओर प्रयाण कर गई । सवाल है कि यह कैसे हुआ और क्यों हुआ ? इतने यादव सौराष्ट्र में क्यों चले गये । वहाँ उनका वैभव और ऐश्वर्य कैसे फैला ? जब यादव ब्रजभूमि में रह रहे थे, तब श्रीकृष्ण के हाथों कंस का वध हो गया था । कंस एक आसुरी शक्ति का प्रतीक था । कंस जरासन्ध का जमाता था । उस युग में जरासन्ध के पास अपार बल था । जरासन्ध को कंस के वध का पता लगा तो उसने ब्रजभूमि पर आक्रमण करने के लिए अपनी विशाल सेनाएँ भेज दीं । इस स्थिति में श्रीकृष्ण ने यादव जाति के जितने

भी योद्धा और वीर थे, उन सबको एकत्रित किया । श्रीकृष्ण ने यादवों की उस विशाल सभा में कहा—“हम सब यहाँ ब्रजभूमि में रह कर जरासन्ध की विशाल सेनाओं का मुकाबला नहीं कर सकते । यदि हम यहाँ पर रहे तो यादव जाति का संरक्षण नहीं कर सकेंगे । जरासन्ध की विशाल सेना के सामने हमारी सेना नगण्य है । यहाँ रह कर हम यादव जाति के संहार को रोक नहीं सकते । जय और पराजय का प्रश्न बड़ा विकट है ।” उस विशाल सभा में से एक पुरोहित ने, जिसके अन्तर मन में यादव जाति के प्रति अनन्य प्रेम था और जो पिंगल शास्त्र एवं ज्योतिष शास्त्र का पारंगत विद्वान माना जाता था । उसने कहा—

“ब्रजभूमि में ही यदि यादव जाति युद्ध करेगी तो विजय प्राप्त कर सकती है, परन्तु बलिदान अधिक देना होगा । यादव जाति का सर्वनाश भी सम्भव है । अतः ब्रजभूमि को छोड़ दिया जाये और अन्यत्र कहीं किसी सुरक्षित स्थान की खोज की जाये । अन्य सभी विकल्पों को छोड़ दिया जाये । तभी यादव जाति एक विशाल सेना के रूप में खड़ी रह सकती है । शत्रु को पराजित कर सकती है ।” परन्तु यादवों के सामने सबसे बड़ी समस्या दो थीं—एक अपने पुराने वैभव को छोड़ना और दूसरे नये स्थान पर जाकर अपना साम्राज्य जमाना । बहुत से लोग अपने पुराने वैभव को छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे । पर श्रीकृष्ण ने कहा—“जीवित रहेंगे तो फिर साम्राज्य बना लेंगे ।” अतः यहाँ से चलने में ही हम सबका हित है “को विदेशः सविद्यानाम्” विचारशील के लिए सारा संसार ही अपना है । “स्वदेशो भुवन-त्रयम्” समग्र विश्व ही अपना घर है । मनुष्य अपने बल, पराक्रम और अध्यवसाय से सब कुछ कर सकता है, सब कुछ पा सकता है । श्रीकृष्ण के कहने से यादव लोग चलने को तैयार हो गये । ब्रजभूमि को छोड़ कर, सौराष्ट्र में जाकर उन्होंने अपने नये साम्राज्य की आधार शिला रखी । द्वारिका नगरी का निर्माण किया गया । श्रीकृष्ण के नेतृत्व में यादव जाति ने वहाँ पर भी नया वैभव प्राप्त किया और सर्व प्रकार की सम्पन्नता प्राप्त की । भारतीय इतिहास में यादव जाति का गौरवपूर्ण स्थान रहा है ।

क्रान्तिकारी महापुरुष : श्रीकृष्ण

आज कृष्णाष्टमी है !

श्रीकृष्ण का जन्म-दिन !

दिन आते हैं और चले जाते हैं, पर किसी-किसी दिन में कुछ ऐसी घटनाएँ घट जाती हैं जो उस दिन को भी अमर बना देती हैं । आज से हजारों वर्ष पहले एक अष्टमी आयी और वह अमर हो गई । हम लोग आज भी उस अष्टमी की याद करते हैं ।

जन्म

कंस के कारागृह में इसी अष्टमी के दिन एक महापुरुष जन्म लेता है । एक ऐसा महापुरुष, जो अपने प्रकाश से युग-युग तक जनचेतना को आलोकित कर देता है । उस महापुरुष के जन्म के समय सर्वत्र दुःख और अन्धकार फैला था । मौसम भी भयावना था । आकाश में काली घटाएँ छायी थीं । बिजलियाँ कड़क रही थीं । प्रचंड वर्षा हो रही थी । सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन में भी भयानक तूफान था । कंस के क्रूर शासन की काली घटाएँ छायी थीं और जरासन्ध के अत्याचार की बिजलियाँ कड़क रहीं थीं, दुर्योधन और शिशुपाल जैसी मदान्ध शक्तियाँ भारतीय क्षितिज पर छाने जा रही थीं । “जिसके पास शक्ति है, वही इस धरती का मालिक है और शक्तिहीन को जीने का भी अधिकार नहीं है” इस सिद्धान्त की भयानकता से आम जनता संत्रस्त थी । कहने का आशय यह है कि उस समय प्रकृति भी तूफान से भरी थी और समाज तूफान से भरा था । इस अन्तर्बहिर तूफान के बीच श्रीकृष्ण का जन्म होता है । सहसा एक प्रकाश फैलता है । चारों ओर अचानक हर्ष की लहर दौड़ती है । कारागृह के लौह-द्वार हवा के एक हल्के झोके से ही खुल पड़ते हैं ।

श्रीकृष्ण जिस विकट परिस्थिति में जन्म लेते हैं, वह देखकर सचमुच मन काँप उठता है । बहुत से लोग कहते हैं कि हमें बहुत ही बुरी हालत में जन्म मिला है । चारों ओर बन्धन, अभाव और कष्ट है । इन कष्टों के बीच में कैसे उद्धार हो ? यदि हमें कुछ सहज अनुकूलताएँ मिली होतीं तो हम समाज के लिए कुछ कर पाते । इस प्रकार मनुष्य जन्म से ही अनुकूलताएँ

प्राप्त करना चाहता है, पर कृष्ण को कौन-सी अनुकूल परिस्थितियाँ मिली थीं ? क्या उन्होंने राज-महल में जन्म लिया था ? क्या उन्हें चारों ओर स्वतन्त्रता का वातावरण मिला था ? नहीं । फिर भी उन्होंने समाज के लिए, देश के लिए और विश्व के लिए ऐसे-ऐसे काम किए, जिन्हें याद कर के हृदय प्रसन्नता से भर जाता है । जेल में जन्म लेकर, कंस की आसुरी ताकत के सिकंजे के नीचे रहकर भी उन्होंने ऐसा पुरुषार्थ किया, जिससे उस जेल की दीवारें टूट पड़ीं । कंस की आसुरी शक्तियाँ भी छिन्न-भिन्न हो गयीं । जैसे आग की एक चिनगारी घास के ऊँचे ढेर को भी भस्मसात कर देती है, उसी तरह श्रीकृष्ण के पराक्रम के एक शोले ने कंस की राक्षसी वृत्तियों को जला डाला । श्रीकृष्ण के सामने प्रतिकूल परिस्थितियों का पहाड़ खड़ा था, उन्हें दबाने के लिए चारों ओर से प्रयत्न किया जा रहा था, पर श्रीकृष्ण अन्याय और क्रूरता के पहाड़ को ढहाने के लिए पिल पड़े और अपने मिशन में कामयाब हुए । उन्होंने मानव को नया मार्ग दिखाया । ऐसा मार्ग जो सुख, स्वतन्त्रता और आत्म-विकास के मंजिल तक जाने वाला था । यही कारण है कि आज हजारों वर्षों के बाद भी हम उस महापुरुष की पावन चरित्र-गाथा को याद करते हैं । इनके सद्गुणों को अपने जीवन में उतारने का संकल्प करते हैं, उनके सद्गुणों को घर-घर और जन-जन तक पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं ।

भारतीय संस्कृति का स्थायित्व

इस बीच में हमारे यहाँ विदेशी आक्रान्ताओं के हमले भी हुए कितने ही प्रकार की संस्कृतियाँ आईं और या तो यहाँ के जीवन में जज्ब हो गयी या वापिस चली गयीं । विदेशी शासकों ने अपने स्वार्थ के लिए शताब्दियों तक हम पर शासन किया । हमारे भाग्य का फैसला पक्षपात पूर्ण तरीकों से होता रहा । कई बार ऐसा प्रतीत हुआ कि भारतवर्ष की आत्मा मर चुकी है । पर आज हम देख रहे हैं कि वे क्रूर शक्तियाँ सब कुछ करने के बाद भी आखिर टिक नहीं पायीं । समाप्त हो गयीं । आज उन बड़े-बड़े सम्राटों को कोई याद तक नहीं करता । लेकिन श्रीकृष्ण जैसे महापुरुष आज भी दीपस्तम्भ की तरह अडिग खड़े रहकर सामाजिक और मानसिक अन्धकार का विनाश कर रहे हैं । भयानक से भयानक तूफान भी श्रीकृष्ण की यशोगाथा का दीपक नहीं बुझा सके । हमने अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया, किन्तु अपने महापुरुषों को नहीं भुलाया ।

श्रीकृष्ण का जीवन भारतीय जीवन में इतनी गहराई से बैठ चुका है कि कोई भी ताकत उसको उखाड़ नहीं सकती । राज्य और राजा बदले तथा बदलते रहेंगे, किन्तु श्रीकृष्ण के प्रति भारतीय मानस की श्रद्धा नहीं बदल सकती ।

गाँव में शादी के अवसर पर मुसलमान लड़कियाँ भी अपनी संख्याओं के साथ मिलकर जब लोक-गीत गाती हैं तो कहती हैं कि यदि हमारा दिवाह हो तो हमें कृष्ण कन्हैया जैसा सुन्दर और प्रेमी पति मिले । ऐसे लोक-गीत इस बात के द्योतक हैं कि श्रीकृष्ण केवल धर्मशास्त्र की ऊँचाइयों में रहने वाले महापुरुष ही नहीं थे, बल्कि जीवन का स्पर्श करने वाले व्यावहारिक पुरुष थे । उनकी गाथा केवल पुराणों को ही सुशोभित नहीं करती, केवल सूरदास और कबीर के काव्यों को ही तरंगित नहीं करती, किन्तु लोक-गीतों के रूप में भी वह रम गई है । और जैन, बौद्ध, मुसलमान, हिन्दू आदि का भेद किए बिना सर्वत्र व्याप्त हो गई है । इसीलिए हर धर्म की बालाएँ अपने माता-पिता से श्रीकृष्ण जैसा पति माँगती हैं । जाहिर है कि हमारी यह व्यापक और श्रद्धालु भावना मरकर भी नहीं मरी । सब कुछ बदला, लेकिन हमारा पल्ला खाली नहीं हुआ । हमारे पास जीवन की कुछ ऐसी थाथियाँ हैं कि हम उन पर गर्व करते हैं, जहाँ कहीं भी हम रहें, हमारे मन में भारतीय संस्कृति का झरना बहता ही रहेगा और उस संस्कृति का एक-एक शब्द हमारे लिए गौरव का शब्द रहेगा ।

राजा या लोकपुरुष

श्रीकृष्ण राजा नहीं थे । वे लोकपुरुष थे । कितने ही व्यक्ति राजवंश में पैदा होते हैं, राज्य करते हैं और चले जाते हैं। उन्हें कोई याद तक नहीं करता । उन्हें कोई जानता तक नहीं । आज हम देखें कि इतिहास में कितने राजा हुए । पर हम किस-किस का कीर्तन करते हैं, किस-किस की गौरव-गाथाएँ गाते हैं, किस-किस की भक्ति और पूजा करते हैं । हम श्रीकृष्ण की पूजा इसलिए नहीं करते कि वे एक बहुत बड़े राजा थे, इसलिए भी नहीं करते कि उन्होंने बड़े साम्राज्य का निर्माण किया, इसलिए भी नहीं करते कि वे युद्ध में विजयी हुए । ये सब तो तुच्छ आधार हैं । ये तो ऐसे क्षुद्र स्रोत हैं, जो थोड़ी-सी धूप पाकर सूख जाते हैं । किन्तु श्रीकृष्ण का जीवन प्रेरणा का वह अगाध सागर है, जो युग-युगान्त

तक तरंगित रहेगा । श्रीकृष्ण के जीवन में कोई ऐसा वैशिष्ट्य है, जो उन्हें दुनियां की समस्त विभूतियों से अलग कर देता है । उनका वैशिष्ट्य समझने के लिए उनके वैभवशाली महल को मत देखिए, उनकी महान् यादव जाति को मत देखिए, उनके सार्वभौम सम्राट होने में भी उनकी महानता ढूँढ़ने का प्रयास मत कीजिए, उन्हें देखना है तो उनका चरित्र देखिए । उनके जीवन में कुछ ऐसे गुणों का समन्वय था, जो एक दूसरे के प्रतिस्पर्धी जान पड़ते हैं और यही समन्वय उनके व्यक्तित्व और चरित्र का वैशिष्ट्य था । वे ऐसा रंग लेकर आए, जो सारी धरतीं और आसमान पर सारी मानव-जाति और सृष्टि की रचना पर छा गया ।

स्नेह के प्रतीक

श्रीकृष्ण मुरलीधर थे । हाँ, मुरलीधर । उनकी मुरली ने सारे गोकुल को तरंगित कर दिया था । लोगों ने कहा—“मधुराधिपतेः सर्वं मधुरम्” केवल उनकी बांसुरी ही मधुर नहीं थी, बल्कि उनके चरित्र का कण-कण माधुर्य रस से ओत-प्रोत था । उनकी बांसुरी स्नेह और आकर्षण का प्रतीक बन गई । लेकिन हम जानते हैं कि जहाँ उनके एक हाथ में बाँसुरी थी, वहाँ दूसरे हाथ में सुदर्शन चक्र भी घूमता था । सुदर्शन चक्र के तेज से अन्याय करने वालों की आँखें चौंधिया जाती थीं । श्रीकृष्ण का सुदर्शन चक्र धरती पर से अन्याय और शोषण को नेस्तनाबूद करने के लिए ही था । शोषण करना जितना पाप है, गुनाह है, उतना ही शोषण को और अन्याय को सहन करना भी पाप है । किसी को डराओ मत, लेकिन किसी से डरो भी मत । श्रीकृष्ण ने यही संदेश दिया । गीता कहती है —

“यस्मान् नोद् विजते लोको लोकान् नोद् विजते यः ।”

हजारों वर्षों के बाद भी आज तक गीता के स्वर भारतीय कंठों से निरन्तर फूटते रहते हैं । गांधी ने भी गीता का सहारा लिया । और कहा—“स्वयं अभय बनो और विश्व को अभय बनाओ । जहाँ कहीं भी भय है, आतंक है, अन्याय है, उससे संघर्ष करो । उसे सहो मत । उसे समाप्त करो । दूसरों को गुलाम बनाना जितना पाप है, दूसरे का गुलाम बने रहना भी उतना ही बड़ा पाप है । इसलिए गुलामी की जंजीरों को तोड़ डालो ।” यही गीता की प्रेरणा थी । हम देखते हैं कि श्रीकृष्ण ने अपे निकटस्थ और आत्मीय जनों को भी कर्तव्यविमुख

होने पर क्षमा नहीं किया । महाभारत के युद्ध में अर्जुन, भीम आदि पांडवों को भी कर्तव्य पालन न करने पर बार-बार श्रीकृष्ण की ललकार सहनी पड़ती है । सच तो यह है कि उनका सुदर्शन कर्तव्य पालन करवाने के लिए निरन्तर घूमता रहा । प्रेम और स्नेह के मधुर वातावरण का निर्माण करने में भी श्रीकृष्ण बहुत तत्पर थे । वे चारों ओर अपने स्नेह और वात्सल्य का रंग बिखेरे रहते थे और यही कारण है कि साधारण से साधारण आदमी की भी इन तक पहुँच थी । बच्चों और ग्वालों में भी वे घुलमिल जाते थे । उनके रहन-सहन से ऐसा भान नहीं होता था कि वे एक विशाल साम्राज्य और महान यादव जाति से सम्बन्ध रखते हैं ।

नम्रता की मूर्ति

उनकी नम्रता अद्भुत थी । वे ग्वाल-वालों के साथ, इतने विनम्र हो जाते थे, मानों स्वयं भी एक साधारण ग्वाले ही हैं । वे स्वयं को गोप कहने में बड़ा आनन्द महसूस करते थे । आज के शासकों और पूँजीपतियों की तरह वे जन-साधारण से अलग रहना और किसी भी काम को छोटा मानना नहीं जानते थे । इसका सबसे बड़ा प्रमाण आचार्य संदिपन के आश्रम में उनका रहन-सहन था । श्रीकृष्ण आचार्य के पास उसी तरह रहते थे, जैसे दूसरे सब बालक । वे सभी तरह के काम भी करते थे । आश्रम में झाड़ू देना, पानी भरना, समिधा एकत्रित करना आदि सभी कामों में बिना किसी ननुनच के निरत रहते थे । सुदामा जैसे दरिद्र ब्राह्मण कुमारों के साथ एक आसन पर बैठकर वे पढ़ते थे । इतना ही नहीं, बल्कि श्रीकृष्ण के किसी भी आचरण से ऐसा भान तक नहीं होता था कि दूसरे विद्यार्थी गरीब हैं और वे अमीर हैं । कितनी बड़ी महानता थी उनमें । यही महानता और नम्रता उनमें अन्त तक बनी रही । उन्होंने यज्ञ में झूठी पत्तलें भी उठाईं और युद्ध में अर्जुन के सारथी होने का भी काम किया । उनकी दृष्टि में कोई भी काम छोटा और बड़ा नहीं था । सच तो यह है कि काम कभी छोटा-बड़ा होता भी नहीं है । कर्तव्य-पालन ही सबसे बड़ा काम है । इसीलिए उन पर कवियों ने काव्य रचे । गोपियों ने प्रेम किया और भक्तों ने पूजा की । महाकवि माघ ने कहा कि वे हिमालय की भाँति ऊँचे और सागर की तरह गंभीर थे ।

ऊँचाई और गहराई आपस में विरोधी चीज हैं । ऊँचाई हिमालय

के पास है और गहराई समुद्र के पास । दोनों का कभी मेल नहीं बैठता । किन्तु श्रीकृष्ण के चरित्र को देखकर ऊँचाई और गहराई का मेल बैठाने के लिए महाकवि को बाध्य होना पड़ा । आज के जन-जीवन की भी यही समस्या है । ऊँचे चरित्र में गहराई नहीं होती, और गहरे चरित्र में ऊँचाई नहीं होती । बड़प्पन और गंभीरता इन दोनों गुणों का समन्वय जब तक नहीं हो जाता, तब तक जीवन महान नहीं बन सकता ।

युद्ध विरोधी विचार के संस्थापक

इसी तरह श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में कवियों ने कहा—‘वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि ।’ श्रीकृष्ण के जीवन का यह भी एक आश्चर्यजनक अध्याय है । एक तरफ वे प्रेम-बन्धन से विभोर हैं तो दूसरी तरफ युद्ध करने में निरत हैं । लोग कहते हैं कि श्रीकृष्ण तो युद्ध के देवता थे । उन्होंने स्वयं भी युद्ध किया और दूसरों को भी लड़ाया । पर यह विवेचन उनके व्यक्तित्व को एकांकी दृष्टि से देखने का परिणाम है । यदि समग्र दृष्टि से देखा जाय, तो हम अनुभव करेंगे कि उनके हृदय में कोमलता और प्यार लबालब भरा था । दृष्टि के दोष को दूर करके यदि महाभारत पढ़ें तो हमें पता लगेगा कि युद्ध श्रीकृष्ण के जीवन में केवल विवशता का अध्याय है । वे युद्ध से बचना चाहते थे । यदि उन्हें युद्ध से घृणा न होती तो दुर्योधन के पास शान्ति का सन्देश लेकर स्वयं उन्हें उपस्थित होने की क्या जरूरत थी । दुर्योधन के दरबार में श्रीकृष्ण दूत बनकर हाजिर हों, इससे बढ़कर उनके शान्ति-प्रेमी होने का दूसरा क्या उदाहरण हो सकता है ? मन-मुटाव की परिस्थितियों में दूसरे के घर जाना नम्रता का उत्कृष्ट उदाहरण है । आज-कल भी यदि दो भाइयों में झगड़ा हो और विवाह-शादी जैसा अवसर आ जाय तो यही सोचा जाता है कि हमें क्या पड़ी है, हम वहाँ क्यों जाएँ । जाने वाला जाना नहीं चाहता और सामने वाला बुलाना नहीं चाहता । एक मां के दो बेटे, सगे भाई, पर एक दूसरे के घर जाना पसंद नहीं करते, अपने आपको बहुत बड़ा मान लेते हैं । अपने पुराने स्नेह-सम्बन्धों को भी तोड़ डालते हैं । तब भला जहाँ राज्य का झगड़ा हो, वहाँ सुलह के लिए दूत बनकर जाना कितनी बड़ी बात है ! शान्ति प्रेमी ही ऐसा कर सकता है ।

युधिष्ठिर ने राजसूय-यज्ञ का आयोजन किया । प्रश्न उठा कि इस

युग का सबसे बड़ा महापुरुष कौन है ? खूब चर्चा हुई । चर्चा के बाद निणय देने का अधिकार पितामह भीष्म को दिया गया । भीष्म ने कहा इस युग का सबसे बड़ा महापुरुष श्रीकृष्ण है । सबसे पहला निमन्त्रण उन्हीं को मिलना चाहिए और उनकी ही सबसे पहले पूजा होनी चाहिए । निःसन्देह श्रीकृष्ण महापुरुष थे । केवल उस युग के ही महापुरुष नहीं, वे युग-युगान्त के महापुरुष थे । श्रीकृष्ण को भगवान के रूप में स्वीकार करने में किसी को आपत्ति हो सकती है, पर वे विश्व के महापुरुष थे, यह स्वीकार करने में किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती । फिर भी वे पांडवों के दूत बनकर दुर्योधन के द्वार पर पहुँच गए, और उन्होंने कहा—‘दुर्योधन ! समझने की कोशिश करो ।’ परिस्थितियों का चक्र घूमता जा रहा है । यह कौरव-वंश मृत्यु के मुख में जाए, इससे पहले तुम उसे बचा लो । भारतवर्ष के समस्त वंश युद्ध के दावानल में झुलस सकते हैं । इसलिए तुम बुद्धि से काम लो । सृष्टि के सौन्दर्य को जलकर खाक होने से रोको । युद्ध केवल क्रूरता का प्रतीक है । यदि युद्ध होगा तो देश की समस्त महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ समाप्त हो जायेंगी । सोचने की कोशिश करो दुर्योधन । क्या तुम हजारों, लाखों मां-बहनों को पुत्र एवं पति वियोग में चिल्लाकर रोते हुए और आँसू की नदियाँ बहाते हुए देखना पसन्द करोगे ? क्या तुम लाखों सुन्दर और बुद्धिमान युवकों की लाशें युद्ध भूमि में सड़ती हुई देखना चाहोगे ? इसलिए परिस्थिति की गंभीरता को समझो और हिंसा का तांडव नृत्य होने से पहले सम्हल जाओ । मैं नहीं चाहता कि युद्ध की बीभत्स चिनगारी में देश बर्बाद हो । मैं नहीं चाहता कि भाई-भाई का गला काटे । मैं नहीं चाहता कि आदर योग्य बुजुर्गों के खिलाफ उन्हीं की संतान हथियार उठाए । यह सौदे का सवाल नहीं है । ‘मैं तुमसे झोली पसार कर भिक्षा मांगता हूँ और प्रार्थना करता हूँ कि देश को युद्ध से बचा लो पांडवों को राज्य नहीं चाहिए, वैभव नहीं चाहिए । मैं उन्हें गांवों में रहने के लिए तैयार कर लूँगा । उनके रहने के लिए सिर्फ पांच गांव भर दे दो ।’ श्रीकृष्ण की यह प्रार्थना जाहिर करती है कि वे युद्ध नहीं चाहते थे । युद्ध टल जाय, इसीलिए उन्होंने विशाल साम्राज्य के बटवारे का मोह छोड़ दिया और केवल गांवों पर ही फैसला करने को तैयार हो गए । यह फैसला भी अधिकार के रूप में नहीं, बल्कि भिक्षा के रूप में उन्होंने प्रस्तुत किया था । इस स्थिति में हम श्रीकृष्ण की उत्तम मानवता के दर्शन करते हैं, उनके उस

हृदय के दर्शन करते हैं, जिसमें करुणा का राग छलक रहा है । महाभारतकार ने इस प्रसंग का ऐसा भावपूर्ण चित्र खींचा है, जिसमें करुणा और त्याग के रंग निखर उठे हैं । प्रत्येक प्राणी का हृदय चाहे वह किसी भी मत-मतान्तर का क्यों न हो, युद्ध न होने देने की श्रीकृष्ण की वृत्ति का समर्थन करेगा । इतना सब होने पर भी दुर्योधन के हृदय में करुणा का स्रोत नहीं फूटा और उसने कहा—

“सूच्यग्रं, नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव !” कैसी बात कर रहे हो कृष्ण ! क्या साम्राज्य ऐसे लिया और दिया जाता है ? साम्राज्य भीख में देने की चीज नहीं, लड़कर लेने की चीज है । जाओ, युद्ध की तैयारी करके आओ, फिर साम्राज्य लेना । तुम जन्म के ग्वाले साम्राज्य की भूमिका क्या जानोगे ? पांच गांव देना तो बहुत बड़ी बात है, सुई की नोक जितनी भूमि भी मैं देने को तैयार नहीं हूँ । यह था दुर्योधन का उत्तर । भला, जब समझौते के सब दरवाजे बन्द कर दिए जाएँ, शान्ति की समस्त भावनाएँ नष्ट कर दी जाएँ, उस हालत में एक मजबूर राजनीतिज्ञ क्या कर सकता है ? क्या वह कायर बनकर घुटने टेक दे ? नहीं, राजनीति ऐसा करना नहीं सिखाती । तब श्रीकृष्ण कहते हैं—“तुम स्वयं अपना विनाश मोल ले रहे हो दुर्योधन ! तुम्हारी मौत सिर पर मंडरा रही है । यदि तुम खूंखार बनकर युद्ध ही करना चाहते हो तो तैयार हो जाओ । कृष्ण तुम्हें युद्ध ही देगा ।”

श्रीकृष्ण और दुर्योधन का यह संवाद राजनैतिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है । राज्य-शास्त्र यह कहता है कि जब दूसरा कोई उपाय न रहे, तब हथियार उठाओ । महाकवि भवभूति लिखते हैं :

यशः शरीरेण जीवति ।

राजा रक्त का प्यासा नहीं होता । वह इन्सान की गर्दन से खिलवाड़ नहीं कर सकता । वह द्वेष-भाव से मानव के पेट में तलवार नहीं घुसेड़ सकता । जब शत्रु के अन्याय का प्रतिकार करने में अन्य समस्त उपाय असफल हो जाएँ और शक्ति प्रयोग के अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग ही न रह जाय, तभी राजा हथियार उठाता है । और जब वह हथियार उठाता है तो अन्याय, अत्याचार को समूल नष्ट कर देता है । फिर कायर बनकर पीठ नहीं दिखाता । जैसे एक वैद्य शरीर पर उभरे हुए फोड़े को ठीक करने कि लिए औषधियों का इस्तेमाल करता है, इन्जेक्शन

भी लगाता है तथा इसी प्रकार चिकित्सा के दूसरे सब प्रयोग करता है, लेकिन फिर भी यदि घाव दुरुस्त न होगा तो वह आपरेशन करके अन्दर का मवाद बाहर निकाल देता है । वह शल्य-क्रिया-आपरेशन रोगी को मारने के लिए नहीं, बल्कि रोग को खत्म करने के लिए होती है । इसी प्रकार समाज में अन्याय, अत्याचार का कोई जहरीला फोड़ा निकल आए और यदि वह स्नेह और समझौते की चिकित्सा से ठीक न हो तभी कुशल वैद्य की तरह राजा युद्ध के लिए हथियार उठाता है । शस्त्र की मर्यादा यही है कि वह केवल अन्याय के विरुद्ध ही उठाया जाय ।

सारांश यह है कि श्रीकृष्ण युद्ध नहीं चाहते थे । पर बाध्य होकर उन्हें युद्ध करना पड़ा । यह दो विरोधी गुणों के समन्वय का ही परिणाम है । कोमलता और कठोरता का सन्तुलन इस सारे प्रकरण में दिखाई पड़ता है । यहाँ कोमलता और नम्रता की जरूरत थी, वहाँ वे एक दूत बनकर भिक्षा मांगने को भी तैयार हो गए और जहाँ कठोरता की जरूरत थी, वहाँ उन्होंने कुशलतापूर्वक युद्ध करके विजय प्राप्त की । बांसुरी और सुदर्शन चक्र उनकी कोमलता और कठोरता के प्रतीक बन गए हैं । बल्कि जिस समय सुदर्शन चक्र घूम रहा हो उस समय भी मन और मस्तिष्क पर बांसुरी की मधुरता का प्रभाव रहना चाहिए और जिस समय बांसुरी बज रही है, उस समय भी सुदर्शन चक्र की शौर्यता का प्रभाव रहना चाहिए । यदि ऐसा संतुलन नहीं सधता तो राष्ट्रीय जीवन सुरक्षित नहीं रह सकता था ।

दावानल पी गए

श्रीकृष्ण के दावानल पी जाने की एक कथा आती है* । जब उन्होंने देखा कि जंगल की भीषण अग्नि में गायें और ग्वाले, पशु-पक्षी और नर-नारी झुलसते जा रहे हैं तो वे उस दावानल को पी गए । यह एक स्थूल उदाहरण है । इसे वास्तविकता की अथवा तर्क की कसौटी पर कसने की आवश्यकता नहीं है । यह एक रूपक है । मानव के मन में द्वेष और घृणा का एक भयंकर दावानल जलता रहता है । उस दावानल को पी जाने की बात ही महत्व की बात है । हम आज भी देखते हैं कि समाज में द्वेष का वह दावानल जब कभी भड़क उठता है । जब तक द्वेष के ये दावानल पीए नहीं जायेंगे, तब तक शान्ति कैसे होगी ? इस दावानल को पीना ही महत्व की बात है । श्रीकृष्ण निरन्तर समाज

की आग को शान्त करने के लिए स्वयं अपमान, घृणा और तिरस्कार सहते रहे ।

शंकर ने गरल पान किया । वह गरल समुद्र मंथन से निकला हुआ स्थूल गरल ही था या और भी कुछ था, यह समझने की बात है । क्या देवता गण इसी स्थूल गरल से भयभीत थे ? क्या एक बार उस स्थूल गरल को पी जाने मात्र से देवता गण कष्टों से मुक्त हो गए ? सच तो यह है कि समाज में फैली राक्षसी वृत्तियों के गरल को पीकर ही शंकर ने देवताओं को कष्ट मुक्त किया । इन सब घटनाओं को समझने के लिए स्थूल शब्दों और विवरणों में जाने की जरूरत नहीं है । उस घटना के पीछे जो भावना है, उसे समझने की आवश्यकता है । यदि ऐसी उदात्त दृष्टि से हम सोचेंगे तो शंकर के गरल पीने का रहस्य तुरन्त समझ में आ जायगा । आश्चर्य है कि नित्य अमृत पान करने वाले देवताओं की उतनी पूजा नहीं होती, जितनी गरल पान करने वाले शंकर की पूजा होती है । अमृत पीने वाले देव होते हैं और गरल पीकर शंकर महादेव कहलाते हैं । इसी तरह श्रीकृष्ण के दावानल पीने की बात है ।

धेनुकासुर वध

श्रीकृष्ण के जीवन में धेनुकासुर के वध की घटना आती है । एक राक्षस धेनु का रूप बनाकर श्रीकृष्ण के सामने आया और उन्होंने उसका वध किया । धेनु शब्द प्रतीकात्मक और आलंकारिक है । इस घटना का आशय यही है कि जब साधारण मनुष्य के सामने अधर्म धर्म का बाना पहनकर आता है और दम्भ तथा शोषण भी सदाचार को मनोहर रूप धारण करके प्रकट होते हैं, तब मनुष्य विभ्रम में पड़ जाता है । वह फैसला नहीं कर पाता कि क्या करे और क्या न करे । मनुष्य राक्षस से तो लड़ सकता है पर जब राक्षस ही मनुष्य का बाना पहनकर आ जाय तो कठिनाई पैदा हो जाती है । हम यह देखते हैं कि आज समाज में बहुत सी रूढ़ियाँ और अन्ध विश्वास मूलक परम्पराएँ इस तरह की आ गयी हैं कि जिनसे छुटकारा पाना बहुत कठिन मालूम देता है । इसका कारण यही है कि उन गलत परम्पराओं को ठोकर लगाने का मतलब होता है, धर्म को ठुकराना । ऐसा अधर्म बहुत खतरनाक होता है, जो वास्तव में धर्म न होते हुए भी धर्म की तरह चलने लगता है । धेनुकासुर का भी यही रूप सामने आया । श्रीकृष्ण को गाय से बहुत

प्रेम था । इसलिए राक्षस ने गाय का बाना पहनकर अपनी मनमानी करने का तय किया । श्रीकृष्ण ने अनन्त धैर्य के साथ वस्तुस्थिति को समझा और उसका वध कर डाला । जो व्यक्ति इस प्रकार धर्म का रूप धरकर आने वाले अधर्म के साथ लड़ता है, वही महान् कहलाता है ।

इसी तरह का एक रूपक और भी आता है यमल और अर्जुन दो यक्ष दो वृक्षों के रूप में खड़े थे । श्रीकृष्ण ने उनका नाश किया । साधारणतः वृक्ष को उखाड़ देना कोई बड़ी चीज नहीं है, पर इस रूपक में एक गहरा आशय है । बात यह है कि इस संसार में एक ऐसा मायाजाल फैला हुआ है कि जिसमें सम्पूर्ण मानव जाति उलझी हुई है । उस मायाजाल को तोड़ सकना कठिन मालूम देता है । पर जब तक यमलार्जुन को उखाड़ा नहीं जायगा, तब तक कोई भी साधक मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकेगा । नाम और रूप नाम के ये दो राक्षस हैं । जिन्होंने सारी सृष्टि को अपने वश में कर रखा है । कुछ लोग अपने नाम और यश के लिए परेशान हैं तो कुछ लोग रूप और सौन्दर्य के लिए परेशान हैं । इस परेशानी को मिटाने के लिए और मानवीय सद्गुणों का विकास करने के लिए नाम और रूप जैसे दो वृक्षों को उखाड़कर फेंकना होगा ।

जड़ परम्पराओं के उत्थापक

श्रीकृष्ण लम्बे समय से चली आ रही जड़ परम्पराओं को तोड़कर आगे आए, यही उनकी महानता थी । उन्होंने किसी चीज को इसलिए स्वीकार नहीं किया कि वह परम्परा से चली आ रही है । उन्होंने हर परम्परा का औचित्य और अनौचित्य की कसौटी पर परीक्षण किया । जो लाभदायक परम्परा थी, उसे रखा और जो अलाभदायक थी, उसे तोड़ फेंका । यदि जरूरत पड़ी तो उन परम्पराओं को तोड़ने के लिए समाज के साथ संघर्ष भी किया । इसका एक ज्वलंत उदाहरण श्रीकृष्ण द्वारा यज्ञों का विरोध करना है । जिस तरह महावीर और बुद्ध ने यज्ञों का विरोध किया, उसी तरह श्रीकृष्ण ने भी विवेकहीनतापूर्वक किए जाने वाले यज्ञों का विरोध किया । जब जरासंध ने नर-मेध-यज्ञ करने का आयोजन किया तो श्रीकृष्ण युधिष्ठिर की राज्य सभा में गए और वहाँ यह प्रश्न उठाया कि जरासंध नर-मेध-यज्ञ करने जा रहा है और उस यज्ञ में उन सभी राजाओं का बलिदान कर दिया जायगा, जो जरासंध की जेल में बन्द है । हमारा यह कर्तव्य है कि हम इस अमानवीय

नर-मेघ-यज्ञ को रोकें । युधिष्ठिर की राज्य-सभा में इस प्रश्न पर विचार हुआ और श्रीकृष्ण की बात स्वीकार करके उस यज्ञ को रोकने का तय किया गया । भीम और अर्जुन के साथ श्रीकृष्ण गए और जरासंध का वध करके उस भयंकर नर-मेघ-यज्ञ को रोका, तथा तमाम बंदी राजाओं को मुक्त किया । श्रीकृष्ण की दृष्टि में यज्ञ का अर्थ बहुत ऊँचा था । वे स्थूल तथा द्रव्य-यज्ञों से ज्ञान-यज्ञ को ऊँचा मानते थे । उन्होंने गीता में कहा —

‘श्रेयान् द्रव्य-मयाद् यज्ञाद् ज्ञान-यज्ञः परंतप’ !

हे अर्जुन ! इन स्थूल यज्ञों से, बाहरी यज्ञों से श्रेय नहीं होगा । सच्चा यज्ञ तो ज्ञान-यज्ञ ही है, जिसमें मन के पाप जलकर समाप्त हो जाते हैं । और भी यज्ञ के सम्बन्ध में विलेखण करते हुए उन्होंने कहा —

‘यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि !’

यहाँ पर उन्होंने ज्ञान-यज्ञ की ओर ही संकेत किया है । वे यह बताना चाहते हैं कि मनुष्य स्थूल भाषा और बाह्य क्रियाओं में उलझ जाता है, जीवन के छोटे-छोटे केन्द्रों में बन्द हो जाता है, अपने आन्तरिक आदर्शों को भूलकर क्रिया-कांड प्रधान बन जाता है, यह ठीक नहीं है । इसलिए श्रीकृष्ण ने ब्रज में होने वाली इन्द्रपूजा का भी विरोध किया । हजारों मन दूध-दही को नष्ट करके और देश की धन-शक्ति और जन-शक्ति को अपव्यय करके इन्द्रपूजा का अनुष्ठान करना उन्होंने गलत बताया । इस इन्द्रपूजा से तो गोवर्धन पर्वत की पूजा करना अधिक श्रेष्ठ है । क्योंकि यह पर्वत बाढ़ से हमारी रक्षा करता है । हमारे पशुओं के लिए चारागाह प्रदान करता है । इन सब दृष्टियों से कृष्ण के जीवन पर जब विचार किया जाता है तो वहाँ ऐसी क्रान्तिकारी भावनाओं के दर्शन होते हैं जो अन्यत्र दुर्लभ हैं । वे केवल उन्हीं बातों का समर्थन करते हैं जो समाज के लिए उपयोगी हैं । सचमुच वे एक क्रान्तिकारी महापुरुष थे । बांसुरी और सुदर्शन चक्र उनकी क्रांति के ये दो माध्यम थे ।

सन्तुलित व्यक्तित्व

आज उनके जन्म-दिन के अवसर पर जब हम उन्हें याद करते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है, मानो हम किसी विराट सागर के किनारे पर खड़े हैं । उस सागर में से एक-एक चुल्लू पानी भरकर उस सागर की विराटता प्राप्त करना चाहते हैं । पर एक-एक चुल्लू पानी से भला उस

गम्भीर सागर की गहराई को कैसे नापा जा सकता है ? हम अपनी तुच्छ शब्दावली से उस महापुरुष के अगाध जीवन को व्यक्त नहीं कर सकते । महाभारत और भागवत जिस चरित्र-नायक के चरित्र-चित्रण में पूरे नहीं हो पाये, उस श्रीकृष्ण का वर्णन हम क्या करें ? महाभारत के श्रीकृष्ण भागवत के श्रीकृष्ण में नहीं समा सके और भागवत के श्रीकृष्ण महाभारत में नहीं आ सके । दोनों को मिलाकर ही श्रीकृष्ण का पूरा रूप बनता है । भागवत का श्रीकृष्ण यदि मुरलीधर है तो महाभारत का श्रीकृष्ण सुदर्शनधारी है । श्रीकृष्ण के किसी एकान्तपक्ष को स्वीकार करना या देखना उचित नहीं होगा । दोनों का समन्वय ही श्रीकृष्ण का सही चरित्र है । क्योंकि श्रीकृष्ण के हाथों कभी भी सुदर्शन का दुरूपयोग नहीं हुआ । उनकी बांसुरी ने उनके सुदर्शन पर सदा नियंत्रण रखा । इसीलिए वे अतिमानव बन गए, महामानव बन गए । हम उसी समन्वित रूप के धनी श्रीकृष्ण को याद करें और सुदामा की तरह जो दीन-हीन मानव समाज में उपेक्षित पड़े हैं, उनसे स्नेह करें । उनके साथ सहयोग करें । यदि हम ऐसा करेंगे तो श्रीकृष्ण को याद करना सार्थक हो सकेगा । आज के श्रीकृष्ण सुदामा को भूल जाते हैं । जरा आगे आए, कुर्सियों पर चढ़े कि बस, सुदामा कहीं-के-कहीं रह गए । फिर तो बेचारे सुदामा को पहचानना भी कठिन हो जाता है । इसलिए मैं श्रीकृष्ण को याद करने से पूर्व स्वयं अपने से और आप लोगों से यह कहना चाहता हूँ कि हम समाज के लाखों, करोड़ों सुदामा को भूलें नहीं । यदि ऐसी गलती हम से हुई तो फिर श्रीकृष्ण को याद करना निरर्थक हो जायगा । साथ ही जिस प्रकार सामाजिक और धार्मिक परम्पराओं के नाम पर चलने वाली रूढ़ियों का श्रीकृष्ण ने निरसन किया, उसी प्रकार हमें भी उन रूढ़ियों से लड़ना होगा, उनको समाप्त करना होगा । उनको समाप्त करने के लिए हमें मुरलीधारी नहीं, बल्कि सुदर्शनधारी श्रीकृष्ण को याद करना होगा ।

इन महापुरुषों के याद की भी एक रूढ़ी हो गई है । उनका जन्म दिन या निर्वाण दिन आता है तो हम लोग समारोह कर लेते हैं, भाषण दे देते हैं और श्रद्धांजलि अर्पित कर लेते हैं, फिर उन्हें भूल भी जाते हैं । यदि हमें ऐसा ही करना है तो इस तरह एक दिन मनाना भी निरर्थक ही है । यदि सचमुच हम महापुरुषों को श्रद्धांजलि अर्पित करना चाहते हैं तो उनके सद्गुणों को अपने जीवन में लाने की कोशिश करनी

चाहिए । भगवान और भक्त की आत्मा जब तक एक नहीं होगी तब तक भक्ति और श्रद्धांजलि के सारे उपक्रम व्यर्थ सिद्ध होंगे ।

हमने श्रीकृष्ण को अपनी वासनाओं में ढालने का भी उपक्रम किया है । श्रीकृष्ण के भक्त कहलाने वाले लोग ही उनके भोग-प्रधान चित्रों का प्रदर्शन करते हैं । कैलेन्दरों में छापते हैं और अपने मन की अश्लीलता को उन पर थोपना चाहते हैं । इसलिए मैं अन्त में सब लोगों से यह कहना चाहता हूँ कि उनके चित्रों आदि के साथ भी संयम और शालीनता का व्यवहार किया जाना चाहिए । सिनेमाओं में भी जिस प्रकार श्रीकृष्ण आदि महापुरुषों के साथ अन्याय किया जाता है, वह भी रोका जाना चाहिए । प्रेम में संयम और शालीनता न हो तो विकृत हो जाता है इस सिद्धान्त को सदा ध्यान में रखना चाहिए । यदि हम उन महापुरुषों के आदर्शों को जीवन में उतार सकें, तो यह कृष्णाष्टमी का आयोजन सार्थक होगा और हमारा तथा समाज का कल्याण होगा ।



कर्मयोगी श्रीकृष्ण

श्रीकृष्ण का जन्म हुए हजारों वर्ष बीत गए, किन्तु मनुष्य के मस्तिष्क पर आज भी उनकी स्मृतियाँ तरोताजा खेल रहीं हैं । उनके आदर्श और व्यवहार अब भी सजीव-से दिखलाई दे रहे हैं, उनमें प्रेरणा है साहस है और जिन्दगी को नए मोड़ देते रहने की अविश्रान्त क्षमता है । आज श्रीकृष्ण जन्माष्टमी के दिन बहुत सुबह ही विचारों में कुछ उथल-पुथल सी होने लगी, और चिन्तन की धारा कर्मयोगी श्रीकृष्ण के जीवन क्षेत्र की ओर बह चली सोचा जो विचारधारा प्रवाहित हो चली है, उसको पूरे वेग से बढ़ाया जाय और चिन्तन मनन के द्वारा नये निर्माण की संभावना पर अधिक निष्ठा पूर्ण ढंग से विचार किया जाय ।

व्यक्ति का मूल्यांकन व्यक्तित्व के आधार पर किया जाता है, और व्यक्ति वह चीज है जिसके उत्पादन खोजने पर इतिहास, परिस्थितियाँ, संस्कार आदि का अध्ययन करना पड़ता है, इन्हीं सबकी छाया में व्यक्तित्व का बीज पलता है, बड़ा होता है और संसार के समक्ष एक महान वट वृक्ष का रूप धारण करके लाखों प्राणियों के लिए आश्रय स्थल बनता है । इस दृष्टि से श्रीकृष्ण के उज्ज्वलित व्यक्तित्व को परखने के लिए इतिहास की कुछ परतें खोलनी पड़ेंगी ।

जन्म से पहले मौत का वारंट

श्रीकृष्ण का जन्म उन परिस्थितियों में होता है, जिन पर मौत का दुहरा पहरा खड़ा है । कारागार में जन्म होता है, और बाहर पहरेदारों की नंगी तलवारें उस नवजात शिशु का रक्त पीने को लपलपाती हैं । कंस का कड़ा आदेश था कि बालक का जन्म होते ही उसे मौत के घाट उतार दिया जाय, इस प्रकार जन्म से पहले ही मौत का यह वारंट इतिहास की एक विचित्र घटना है । चारों ओर भय, आशंका और कंस के अत्याचारों का आतंक छाया हुआ है । ऐसी विचित्र परिस्थितियों में श्रीकृष्ण का जन्म होता है । श्रीकृष्ण के जन्म की खुशियाँ नहीं मनाई जाती हैं बल्कि उस उल्लास को छिपाने का प्रयत्न होता है । जिस घड़ी से उसका जन्म होता है, वह घड़ी कितनी विचित्र होगी जब हमेशा मौत का पहरा देने वाले पहरेदार बेखबर हो जाते हैं, और वह अभिमानी

कंस जो यह मानता था कि संसार मेरे जिलाए जिन्दा रहेगा और मेरे मारे मर जायगा, वह गहरी नींद में सोया रहता है । कृष्ण पक्ष की उस अँधेरी रात में कृष्ण कारागार से निकाले जाकर जमुना पार गोकुल में पहुँचाए जाते हैं । वहाँ भी उनको राजमहल नहीं, किन्तु किसान की झोंपड़ी और पशुओं को पालने वाले ग्वाले के हाथों में सुरक्षित रखा जाता है । इस प्रकार उनका बचपन बिल्कुल साधारण लोगों के बीच गुजरता है, जीवन का वह उषा-काल कितनी सामान्य स्थिति में बिना शिक्षा और अध्ययन उन चरवाहों और ग्वालों की झोंपड़ियों में धूलधूसरित बाल सखाओं के बीच बीतता है । किन्तु फिर भी अन्दर ही अन्दर महत्वपूर्ण संस्कारों की नई सृष्टि वहाँ बनती जा रही है, जीवन के उदात्त संकल्प वहाँ पर जागृत होते हैं और बल भी पकड़ते जाते हैं ।

मनुष्य सदा से यह शिकायत करता आया है कि वह विकास के लिए प्रयत्न करता है, आगे बढ़ना चाहता है, किन्तु जीवन की परिस्थितियाँ साथ नहीं होतीं । उसे उन्नति के साधन सुलभ नहीं हो पा रहे हैं, इसलिए उसकी उन्नति रुक रही है इस प्रकार वह हमेशा ही अभावों का एक रोना रोता रहा है, यह निमित्त की एक दृष्टि है, इस दृष्टिकोण पर निर्भर रहने वाला व्यक्ति अपने अन्तरंग की शक्तियों को जागृत करने एवं बाहर के अभावों की दीवारों को तोड़ गिराने में समर्थ नहीं हो सकता । भारत का दर्शन इतिहास यही संदेश देता है कि तुम परिस्थितियों का मुँह मत ताको, अपनी शक्ति पर विश्वास करो, उसे जागृत करो, जीवन में सफलता मिलेगी । अवश्य मिलेगी, यदि एक बार असफलता भी मिलती है तो उसका स्वागत करो, वही असफलता सफलता को साथ में लेकर तुम्हारे द्वार पर आएगी ।

जो यह कहते हैं कि हमें उन्नति का अवसर नहीं मिलता, इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि उन्हें अपने ऊपर और अपनी अनन्त शक्तियों पर विश्वास नहीं होता है ।

तुम दीपक नहीं, सूर्य हो

जिसने दृष्टि मूँदकर अर्न्तदृष्टि को खोला है, उसे आत्मा के अनन्त सौन्दर्य और असीम शक्तियों के दर्शन हुए हैं, वह कभी भी किसी दूसरे के आसरे पर बढ़ने की आशंका नहीं रखता, स्वयं की शक्ति और प्रकाश पर उसे भरोसा होता है ।

मनुष्य दीपक नहीं है, सूर्य है ! दीपक भी प्रकाश जरूर करता है, किन्तु उसका प्रकाश सदा पराश्रित रहता है । साधनों की पूर्णता हुए बिना वह प्रकाश नहीं फैला सकता । जब तेल जाती मिलेगा और हवा के झोंके न लहराएँ ऐसी जगह मिलेगी तभी वह प्रकाश दे सकता है । हवा का एक झोंका, या तेल का अभाव उसके प्रकाश को गुल कर सकता है । इस प्रकार दीपक का प्रकाश स्वआश्रित नहीं है, किन्तु सूर्य को इन सब सहारों की अपेक्षा नहीं होती, वह किसी का सहयोग और संरक्षण प्राप्त करके जलने का वादा नहीं करता, किन्तु उसके अन्तर में असीम प्रकाश पुंज भरा होता है, वह स्वतन्त्र रूप से सर्वत्र और सदा बिखरता रहता है । दीपक में जहाँ स्वतः प्रकाशित होने की क्षमता भी नहीं है, और न ही संघर्षों से जूझने की शक्ति भी, वहाँ सूर्य सदा स्वयं प्रकाश फैलाता है और हर संघर्ष और तूफान का सामना करके विजयी होता है । इसीलिए सूर्य अनन्त काल से हर घड़ी नियत समय पर जलता रहा है ।

भारत के दर्शन जैन और वेदान्त, मनुष्य को यही महत्वपूर्ण सन्देश देता है कि तू दीपक नहीं है कि तुझे बाहर के साधनों और संरक्षणों की जरूरत हो । यदि कोई कहे कि मैं गरीब हूँ, नंगी जमीन पर गुजारा करता हूँ, फटे हाल रहता हूँ, मैं कुछ भी क्या कर सकता हूँ ? यदि महलों में रहता, सोने के झूलनों में झूलता और साधन एवं संरक्षण प्राप्त होता तो मैं भी कुछ करके दिखाता—तो मानना चाहिए उसका आत्म-विश्वास मूर्छित हो रहा है, ऐसा व्यक्ति संसार के सामने सिर्फ परिस्थितियों का रोना रोने के सिवाय और कुछ भी नहीं कर पाता । इस प्रकार अपने अन्तर में अनन्त शक्तियों का भंडार रखकर भी आधी से ज्यादा मानव जाति विपरीत परिस्थितियों का मुकाबला करने में पस्त हिम्मत होती है । ऐसे मनुष्यों ने श्रीकृष्ण का जीवन सुना और पढ़ा जरूर होगा लेकिन समझा नहीं है । वे मालाएँ जरूर फेरते होंगे, किन्तु श्रीकृष्ण के विराट रूप की झाँकी नहीं देख पाए हैं ।

श्रीकृष्ण जब गर्भ में भी नहीं थे, तभी उनकी मौत की शर्तें तय की जा चुकी थीं और मौत की घाटियाँ तैयार थीं। उस अंधकार और भीषण चक्रवात से भी वह बाहर निकला । जब वह ग्वालों और चरवाहों में घूमता तो उसे कौन-सी विद्यालय और महाविद्यालय की शिक्षा मिली थी ? परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि जो तेजस्वी है, अंधकार से लड़ने

की हिम्मत रखता है, और जिसे अपनी अन्तर शक्ति के महास्रोत पर विश्वास है उसका जन्म कारागार में हो चाहे मौत के पंजे के बीच में हो, वह आगे बढ़ जाता है, वह चाहे ग्वालों और ग्रामीणों में भी रहे तो क्या अपनी अन्तर की शक्तियों को पहचानता है, वह साधनों के अभाव और परिस्थितियों की प्रतिकूलता का रोना नहीं रोता ।

अन्धकार में प्रकाश

यदि श्रीकृष्ण के जीवन को देखकर और याद करके भी किसी हताश के दिल में आशा और साहस का संचार नहीं होता है, अन्धकार में भी प्रकाश किरणें दिखलाई नहीं पड़ती हैं तो समझना चाहिए कि उसमें देखने की शक्ति नहीं है ।

कभी-कभी ऐसा होता है कि घर में पुत्र-जन्म होता है और उस बच्चे का पिता कोई काम करता हुआ उसमें सफल नहीं होता, या कहीं कोई नुकसान हो जाता है तो बच्चे के जन्म को ही अपशकुन और उस असफलता का कारण मान बैठते हैं । थोड़ी-सी गड़बड़ी होने पर लोग निमित्त के चक्कर में पड़ जाते हैं कि बच्चे की जन्मपत्री दिखाने लगते हैं और सोचते हैं कि यह पुत्र कुल का क्या भला, बुरा करेगा । इस प्रकार लोग थोड़े से अभाव और संघर्ष में फँस जाने पर चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार देखने लगते हैं । वे भूल जाते हैं कि अच्छे दीखने वाले बुरे निकल जाते हैं तो बुरे चिह्न दीखने वाले अच्छे भी निकलते हैं । जन्म से कोई भी बच्चा रावण और कंस नहीं होता, वातावरण और संस्कारों के कारण ही वह वैसा बनता है । पापी और दुष्ट भी अच्छे बन जाते हैं, खून से रंगे हाथ रहने वाला राजा परदेशी का जीवन भी इस प्रकार का पट बदलता है कि देखने वालों की आँखों पर विश्वास नहीं हो पाता । इस प्रकार हमेशा जीवन का दुर्बल पक्ष, ही नहीं देखना चाहिए, किन्तु उसके प्रकाशमय स्वरूप पर भी विचार करना चाहिए । अन्धकार में भी प्रकाश का दर्शन करके भविष्य को उज्ज्वल बनाने का आशावादी दृष्टिकोण रखना चाहिए ।

प्रतिकूलताओं से संघर्ष

श्रीकृष्ण के जीवन में विपरीत परिस्थितियों का चक्रवात आता है तूफान आता है, पद-पद पर प्रतिकूलताएँ उन्हें सताती हैं, किन्तु इन सब

परिस्थितियों के बीच से वे अपना मार्ग बनाते हुए आगे बढ़ते हैं । व्यक्ति जब प्रतिकूलता से जूझता है तो जरूरी नहीं कि उसकी पहली लड़ाई ही विजय का द्वार बन जाए, असफलता और अभाव भी आते हैं किन्तु उनसे जो नहीं घबराता है वह एक दिन अवश्य ही विजय प्राप्त करता है इसीलिए कहा गया है कि तुम हारते हो तो हार से घबराओ मत । तुम्हारी हार और हर हार है जीत । यदि हार के आक्रमण से घबराए नहीं तो विजय अवश्य ही तुम्हारे चरणों में आएगी ।

एक गरीब लड़का, जिसे गरीबी बाप-दादाओं से विरासत में मिली थी, किसी बड़े सेठ को सामने मिला तो उससे जय जिनेन्द्र किया । सेठ ने लड़के का साहस, उत्साह और प्रतिभा देखी तो उस लड़के को अपने साथ ले लिया । घर पर आकर उससे बातचीत की तो मालूम हुआ इसके मन में सचमुच एक दर्द है, गरीबी के बन्धनों को तोड़ने की लगन है । सेठ ने उसे अपने घर पर रख लिया, और एक नाव अन्न से भरकर कहा कि इसे ले जाओ और बेचकर कमाओ । यदि इसमें कुछ नुकसान भी हुआ । तो मेरा ही होगा तुम घबराना मत । वह लड़का नाव लेकर थोड़ी दूर चला कि नाव नदी में डूब गई, लड़का भी डूब रहा था कि तत्काल मल्लाह ने उसे बचा लिया । लड़के को माल डूबने का बहुत भारी दुःख हुआ, वह घबरा कर रोते सिर पीटने लगा और नदी में कूदना चाहता था कि मल्लाह ने उसे बचा लिया, पकड़ कर सेठ के समक्ष जब उसे लाया गया तो सेठ ने उसे समझाया, नुकसान तो मेरा हुआ है ? तुम रोते क्यों हो ? ऐसे रोने से व्यापार नहीं हो सकता । जाओ कोई चिन्ता मत करो, इस बार दो नाव ले जाओ । लड़के ने हिम्मत करके इस बार दो नाव अन्न के भरे और चल पड़ा, भाग्य संयोग कि वही दोनों नाव फिर नदी में डूब गए । इससे लड़का अपना सिर पीटने लगा, अपने को और दरिद्र कहकर कोसने लगा । वह सेठ के पास लौट कर मुँह दिखाने को भी भयंकर पाप समझने लगा, किन्तु मल्लाह ने इस बार भी उसे पकड़ कर सेठ के सामने खड़ा कर दिया । लड़का फूट-फूट कर रोने लगा । उसको रोते देखकर सेठ ने कहा, तुम रोते क्यों हो ? नाव डूब गई तो क्या हुआ ? तुम्हारा भाग्य तो नहीं डूबा, प्रयत्न करना मनुष्य का कर्तव्य है, सफलता असफलता के बारों में उसे चिन्ता नहीं करनी चाहिए । इस प्रकार घबरा गए तो जीवन के महासागर को किस प्रकार पार करोगे । सेठ ने इस बार

तीन नाव भरवाए और कहा कि इनको ले जाओ और अपनी शक्ति और श्रम के बल पर व्यापार करो ।

सेठ यदि भारतीय संस्कृति का उपासक नहीं होता तो पहली बार नाव डूबने पर उस लड़के से कह देता कि—जाओ ! तुम्हारे भाग्य में ही नहीं लिखा है । किन्तु वह जानता था कि जीवन का अर्थ ही अभावों और असफलताओं से जूझना है । दीपक का काम ही अन्धकार से लड़ना है । इसलिए तीन-तीन नाव डूब जाने पर भी उसने तीसरी बार उस लड़के को तीन नाव भर कर दिए । इस बार उसे इतना लाभ हुआ कि पीछे का घाटा सब निकाल लेने पर भी मुनाफा कमा कर आया । तब सेठ ने उसकी पीठ थपथपाई, धीरे-धीरे वह आगे बढ़ने लगा, असफलता के बाद सफलता बहुत मीठी होती है, और साहस भी दुगुना हो जाता है । उसी व्यापार से वह भी सेठ के बराबर का करोड़पति बन गया । यही तो मनुष्य का भाग्य है जो हमेशा अँधेरे में छिपा रहता है । इसीलिए आचार्य चाणक्य ने कहा है —

‘पुरुषस्य भाग्यं, देवो न जानाति कुतो मनुष्यः’

मनुष्य अपने भाग्य पर विश्वास करके गरीबी और अभावों में जूझता हुआ उन्हें पार कर जाता है ।

श्रीकृष्ण के जीवन की भूमिका भी अभावों और प्रतिकूलताओं से प्रारम्भ होती है, किन्तु अटल विश्वास और साहस के साथ बढ़ते हुए वे उन सबको पार करके जीवन के शाश्वत सत्य को हमारे समक्ष रखते हैं । हमारा भाग्य क्या है, कैसा होने वाला है इसका फैसला कुत्ते बिल्लियों के कान फड़फड़ाने और रास्ते से नहीं होता । कोई मांगलिक सुनकर चलता है और जब एक छींक सुनाई पड़ गई तो घबरा जाता है, मन में अमंगल की कल्पनाएँ होने लगती हैं । पता नहीं एक छींक के कारण मांगलिक सुने हुए सभी मंगल और तीर्थकर कहाँ चले जाते हैं ? ऐसी धारणाएँ उनके मानस की दुर्बलता और अज्ञानता की सूचक होती हैं ।

एक बार एक बड़े शहर में चतुर्मास के लिए जाना था । जिस दिन उस नगर में चतुर्मास के लिए प्रवेश करना था उसी दिन एक श्रावक आए और एकान्त में मुझसे कहा कि—आप जिस दिशा से नगर में प्रवेश करने जा रहे हैं उसमें दिशा-शूल का दोष है । अतः नगर की फेरी लगाकर सामने के द्वार से प्रवेश करने के बदले पीछे के द्वार

से प्रवेश करना चाहिए । मैंने उन्हें बताया कि यदि मेरे मन में और तुम्हारे मन में शूल नहीं है तो फिर शूलों से बचाव हो जाएगा, उसकी कोई चिन्ता नहीं है । अगर शूल लगेंगे भी तो उन्हें या तो निकाल कर बाहर कर दिया जायगा या फिर लगे ही रहने देंगे । मैंने सामने के ही द्वार से प्रवेश किया, और चतुर्मास बड़े ही आनन्द और उत्साहपूर्वक सम्पन्न हुआ ।

भाग्य और प्रारब्ध के सम्बन्ध में इस प्रकार की अनेक बातें हैं जो मनुष्य को गुमराह कर दिया करती हैं । जिस भारतीय दर्शन ने यह बताया कि तू सृष्टि का स्रष्टा, नियंता और शासक है, तुझे परमात्मा के सिंहासन पर अधिकार करना है उस भारत में ऐसी दकियानूसी और बुजदिली पैदा करने वाली बातें कहाँ से आई पता नहीं, यदि मनुष्य इन बातों में उलझ जाता है । मन की कमजोरी और भय ले आता है तो मानना चाहिए वह श्रीकृष्ण के जीवन की वह झाँकी नहीं देख पाया है, जिसमें चरवाहे का जीवन बिताने वाला श्रीकृष्ण एक दिन समूचे भारत का नायक बन जाता है, और गीता दर्शन का उपदेश देता है । जिस श्रीकृष्ण ने नर से नारायण और आत्मा से परमात्मा बनने का मार्ग दिखाया ।

देवताओं को चुनौती

श्रीकृष्ण ने जिस प्रकार समाज के अंधविश्वास और कुरीतियों को झकझोरा है, और पत्थर पहाड़ पर आसन जमाए बैठे देवी देवताओं को चुनौती दी है वह भी कम दिलचस्प चीज नहीं है । जैन दर्शन और हरिवंश पुराण पढ़ने वाले जानते हैं कि ब्रजवासी लोग देवी देवताओं की पूजा करते थे । इन्द्र को बहुत बड़ा देवता माना जाता था, उसकी पूजा में हजारों मन दूध जमुना में बहा दिया जाता था । इसकी कल्पना उनमें नहीं थी कि उनके द्वारा बहाए गए दूध को पीने के लिए इन्द्र जमुना में नहीं बैठा रहता था । श्रीकृष्ण ने वर्षों तक इसको देखा, और एक दिन इन्द्र की पूजा के लिए जब ब्रज के लोग एकत्र हुए तो श्रीकृष्ण ने उनसे पूछा—कि कभी किसी ने इन्द्र को देखा है ? और कभी वह दूध पीने को आता है ? आखिर इन्द्र उनके लिए क्या करता है जिसके लिए इन्द्र के नाम पर इतना दूध जमुना में बहाया जाता है । श्रीमद्भागवत में जो वर्णन आया है उसे यदि प्रारम्भ से पढ़ा जाय तो ऐसा लगेगा जैसे

वह घोर नास्तिक हो, उसने यहाँ तक कहा है कि हम स्वयं इन्द्र हैं, और जीवन के भाग्य विधाता हैं। हमने इन्द्र की पूजा की है, तब भी पशुओं में रोग और विपत्तियाँ आई हैं, वर्षा भी नहीं हुई है, लोगों के कष्ट भी बढ़ गए हैं तब इन्द्र कहाँ चला गया था ? इन्द्र की पूजा से क्या लाभ हुआ ? जब पूजा करने पर भी बाढ़ आई, घोर वृष्टि हुई और वह दूर नहीं कर सका। फिर उसकी पूजा क्यों की जाय ? और उसके चक्र में हम सभी क्यों पड़े हैं ? इन्द्र की अपेक्षा तो गोवर्धन पर्वत ही अच्छा है, उससे हमें स्पष्ट लाभ होता है, उस पर गायें चरती हैं, हरी घास की उपलब्धि होती है, उससे वर्षा का जल खेतों को प्राप्त होता है, और वर्षा में हम वहाँ शरण लेकर अपनी रक्षा कर पाते हैं। इस प्रकार इन्द्र से अच्छा तो यह गोवर्धन पहाड़ है जो यथार्थ रूप में निरन्तर सेवा और सहायता प्रदान करता है। अतः इन्द्र की पूजा करने की अपेक्षा गोवर्धन पहाड़ की पूजा अधिक अच्छी है। लोगों ने श्रीकृष्ण के इस यथार्थवादी दृष्टिकोण को स्वीकार किया। सब उनके नेतृत्व में आए और इन्द्र की पूजा छोड़कर गोवर्धन पहाड़ की पूजा करने लगे।

श्रीकृष्ण के इस क्रान्त दर्शन को हम सिर्फ बाहरी तौर पर ही न लें उसकी गहराई में भी जाएँ ? वह मनुष्य के स्वामी देवता को कहीं स्वर्ग या आकाश में नहीं खोजता बल्कि मनुष्य के अन्दर ही खोजता है और अपने अन्दर के इन्द्र को जगाने की बात करता है। उसने कहा कि यदि मान भी लिया जाय कि इन्द्र है तो क्या तुम्हारे पुरुषार्थ के विपरीत फल देने की सामर्थ्य भी उसमें है ? यदि नहीं है, तो फिर पुरुषार्थ और कर्म ही अपने भाग्य का इन्द्र और निर्माता हुआ। इस प्रकार श्रीकृष्ण के विचारों में एक बहुत बड़ी क्रान्ति का स्वर गूँज उठा।

सौराष्ट्र की ओर

श्रीकृष्ण ने यादव कुल में जन्म लिया था, उस जाति के लोग आज भी उस क्षेत्र में बसते हैं और उनकी दशा बड़ी दयनीय है। उस काल में भी यादवों की जाति एक छोटी जाति मानी जाती थी और उसका कोई विशेष महत्वपूर्ण स्थान नहीं था। किन्तु श्रीकृष्ण के सफल नेतृत्व के कारण ही वह जाति भारत की वीर जातियों में गिनी जाने लगी और उस जाति के बच्चे भी उस समय की बहुत बड़ी हस्ती जरासन्ध को चुनौती देने लग गये थे। श्रीकृष्ण ने अपने पुरुषार्थ से कंस को समाप्त

किया, कंस के समाप्त होने पर ब्रजभूमि का एक बहुत बड़ा काँटा जरूर खत्म हो गया था । किन्तु उसके पीछे जरासन्ध जैसी शक्तियों से लोहा भी लेना पड़ा । जब जरासन्ध का आक्रमण हुआ तो श्रीकृष्ण ने सोचा कि ब्रज में रक्षा के साधन बहुत ही कम हैं, वहाँ से जरासन्ध के साथ युद्ध ठानना ठीक नहीं है, युद्ध के लिए सबसे पहली बात स्थान की देखी जाती है और जब उसमें ही कमी हो तो फिर आगे का क्या विचार करें इसलिए सबने निर्णय किया कि ब्रज को छोड़ देना चाहिए और कहीं दूर जाकर नया नगर बसाया जाना चाहिए ।

मनुष्य को अपना बसाया छोटा-मोटा घरोंदा छोड़ने पर बहुत बड़ा दर्द और कष्ट का अनुभव होता है तो वहाँ के लोगों की क्या स्थिति हुई होगी । जब वे अपनी जन्म-भूमि को छोड़कर चले होंगे । जिस जन्म-भूमि की मिट्टी में सहस्रों शताब्दियों से उनके पूर्वज खेलते आए थे, उस जन्म-भूमि का त्याग करना बहुत ही साहस का काम था । जन्म-भूमि तो स्वर्ग से भी अधिक प्यारी मानी जाती है -

जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी

जरा सोचिए कि वे किस प्रकार जन्म-भूमि से सौराष्ट्र की ओर चल दिए होंगे जहाँ उनके स्वागत का कोई प्रबन्ध नहीं था । उनका कहीं ठिकाना नहीं था, श्रीकृष्ण की इस कूच से एक महत्वपूर्ण बात यह प्रकट होती है कि जो अपने घरों से बाहर नहीं निकलता, और जो यह सोचता हो कि यहाँ से उड़ने पर दूसरी शाखा मिले या नहीं, वह कभी उन्नति नहीं कर सकता, कभी विजय भी प्राप्त नहीं कर सकता ।

यादव जाति के सौराष्ट्र प्रस्थान से यह फलित हो गया कि जिस जाति और समाजों को अपने पुरुषार्थ और भाग्य पर विश्वास होता है कि कहीं भी जाए उसका पराक्रम और भाग्य दो पैरों की तरह सदा साथ रहेंगे, वह जाति चाहे छोटी ही हो अवश्य उन्नति करती है । समृद्धि और विकास की ओर बढ़ती है । जबकि -

स्वदेशो भुवनत्रयम्

मानने वाले एक छोटे से टुकड़े में सीमित रह जाते हैं ।

भारतवर्ष की श्रद्धा और भक्ति ने हमेशा ही यह माना है कि जहाँ राम के चरण टिक गए वहीं अयोध्या है । अर्थात् जहाँ पर हम विश्वास और साहस के साथ चलें । वहीं पर आनन्द और उल्लास तैयार है ।

इसके विपरीत जो यह मान बैठे हैं कि बस ! जहाँ हम जमे बैठे हैं, वहीं ठीक है, आगे कहाँ जाएँ ? क्या दिक्कतें हैं ? कैसे उनका मुकाबला करें ? वे विकास नहीं कर सकते । उनके लिए तो यही बात लागू होती है :

तातस्य कूपोऽथ मिति बुवाणाः क्षारं जलं कापुरुषा पिबन्ति ।

यदि किसी के घर में कोई कुआँ है, पुरखों का खुदवाया हुआ है । उसका पानी खारा है, जिसे पीने से तकलीफ होती है । गांव में दूसरे मीठे पानी के कुएँ भी हैं । किन्तु कुछ आलस्य और कुछ इस आग्रह से कि यह हमारे पुरखों का है, वह उसी को जहर की घूंटों के समान खारा पानी पीता रहे उसे क्या कहा जाय ? इस अकर्मशीलता और असाहसिकता का बुरा परिणाम उसे ही भोगना पड़ता है ।

श्रीकृष्ण के विचारों की उस उदारता और साहसिकता का परिचय आज भी हमें मिल रहा है । जब हम यादव जाति के इतिहास को पढ़ते हैं । एक साधारण यादव जाति जिसके पीछे कोई महत्वपूर्ण इतिहास ही एक साथ उन्नति के शिखर पर चढ़ जाए और एक दिन उसका चमकता हुआ सूर्य समूचे भारत खण्ड को आलोकित करने लग जाय, यह सब उसी की करामात है ।

श्रीकृष्ण को मातृभूमि स्वर्ग से भी अधिक प्रिय थी, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि विपरीत परिस्थितियाँ होने पर भी वे उससे चिपके रहे । बहुत समय पहले उनके पूर्वज भी तो किसी अन्य देश से यहाँ आकर बसे ही, परिस्थितियों की अनुकूलता ने उन्हें वहाँ अवसर दिया, आज परिस्थितियाँ यहाँ रहने के अनुकूल नहीं हैं तो उन्होंने छोड़ने का निश्चय कर लिया । मनुष्य सदा एक ही विचार से चिपका नहीं रहता, उस देश, काल, समय को देखकर चलना ही पड़ता है । इस विचार से उन्होंने देश छोड़ा और सौराष्ट्र की ओर प्रस्थान किया । पीछे-पीछे जरासन्ध की सेनाएँ आ रही थीं, यादव जाति के नौजवान उनका मुकाबला भी करते थे, और आगे बढ़ते भी जाते थे । इस प्रकार अपनी और जाति की रक्षा करते हुए सौराष्ट्र के किनारे पहुँचते हैं और सोने की नगरी द्वारिका का निर्माण करते हैं । द्वारिका के निर्माण के साथ जरासन्ध की सेनाओं के साथ संघर्ष में विजय का झंडा फहराया और एक विशाल

साम्राज्य की नींव डाली । यह सब चमत्कार उनके कर्मयोग का ही था । एक उर्दू के कवि ने कहा है :

वह फूल सर चढ़ा जो चमन से निकल गया ।

इज्जत उसे मिली जो वतन से निकल गया ॥

वास्तव में श्रीकृष्ण के जीवन में यह बात बहुत ही सही घटती है ।

कर्मयोग के देवता

श्रीकृष्ण कर्मयोग के देवता के रूप में हमारे सामने आते हैं । उनकी राजनीति अभाव में भाव, अन्धकार में प्रकाश और दीनता में पुरुषार्थ का जोश भरने की राजनीति है । कुछ व्यक्ति श्रीकृष्ण की राजनीति को गलत रूप में भी लेते हैं, वे उस राजनीति को धोखा एवं धूर्तता की राजनीति मानते हैं । किन्तु ये विचार सिर्फ ऊपर की सतह पर चलने वाले हैं, गहराई में जाने पर मालूम होगा कि श्रीकृष्ण ने इस युग में प्रचलित गलत धारणा और परम्परा को चुनौती दी, इसलिए उनकी नीति के बारे में कुछ भ्रम पैदा हो गए ।

श्रीकृष्ण का वास्ता सिर्फ राजनीतिक महत्ता से ही नहीं, किन्तु धर्म के ठेकेदारों और पुजारियों से भी पड़ा । युधिष्ठिर—जिसे धर्मराज कहा जाता था, भरी सभा में अपनी पत्नी को भी दाँव पर लगा देता है, और दूसरी ओर यह कहता है कि झूठ नहीं बोलूँगा—कितनी बड़ी प्रवचना है ?

श्रीकृष्ण ने इसे धर्म का आदर्श नहीं, किन्तु उसके नाम पर धोखा समझा । दया और करुणा के नाम पर अपनी कमजोरियों को छिपाने का नाटक खेलने वाली इस परम्परा को उन्होंने जड़मूल से मिटाना चाहा ।

अर्जुन भी जब अकर्मण्य बनकर रणक्षेत्र में दया और करुणा की बातें करने लगा तो श्रीकृष्ण ने पूछा—कि पण्डितों की तरह बातें करता है, किन्तु तेरा पुरुषार्थ कहाँ सो गया है ? और यह करुणा के देवता कहाँ से आ गया है ?

अर्जुन में दया का ढोंग था, दरअसल वह अपनी दुर्बलताओं को छिपाने की कोशिश कर रहा था । गीता, महाभारत, श्रीमद्भागवत एवं हरिवंश पुराण के पढ़ने पर पता चलता है कि अर्जुन ने उन हजारों सैनिकों, नौजवान नागरिकों के मरने के बारे में तनिक भी चिन्ता व्यक्त

नहीं की, जिन्हें वहाँ लड़ाई के मैदान में झोंकने के लिए उपस्थित किया गया था । किन्तु उसके मन में अपने रिश्तेदारों और स्नेहियों को समक्ष देख कर मोह जगा, और उस मोह को छिपाने के लिए दया और करुणा की बातें करने लगा । इसीलिए श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—“कि तू अज्ञानता से त्रस्त हो रहा है, तू बातें बड़ी-बड़ी करता है, किन्तु मोह के चंगुल में फँस रहा है ।” श्रीकृष्ण ने जो उस समय गीता का उपदेश दिया वह दया और करुणा के विरोध में नहीं दिया, किन्तु अज्ञान और मोह को हटाने के लिए दिया, कर्तव्य भूलकर फलासक्ति के चंगुल में फँसे हुए व्यक्ति का उद्धार करने के लिए श्रीकृष्ण ने वहाँ जो उपदेश दिया वास्तव में वह धर्म, नीति और अहिंसा का प्रतीक है । शान्ति और मैत्री के धागे न टूटने पाएँ इसीलिए उन्होंने दूत बनना स्वीकार किया—जो कि स्वयं सम्राट् थे । अपने को दूत कहलाकर और अनादर एवं अपमान सहकर भी उन्होंने शान्ति के लिए भारी प्रयत्न किए । वह दुर्योधन को युद्ध की विभीषिका के परिणाम समझाते हैं, यह बताते हैं कि इस युद्ध में हारने वाले की तो हार है ही, किन्तु जीतने वाले की भी हार ही होगी, वह भी आँसू बहाकर रोएगा । शान्ति के पैगम्बर बनकर ही उन्होंने विशाल साम्राज्य के पहले-सिर्फ पाँच गाँव पर फैसला और सन्धि करने का प्रयत्न किया । इस प्रकार श्रीकृष्ण ने महाभारत के युद्ध को टालने के अनेक प्रयत्न किए, किन्तु जब फैसला नहीं हुआ तो, जबरदस्ती उन्हें युद्ध की घोषणा करनी पड़ी । फिर भी स्वयं शस्त्र नहीं उठाने की प्रतिज्ञा करके दोनों पक्षों को समान स्तर और समान शक्ति पर तोलने का प्रयत्न किया ।

गीता का नवनीत

श्रीकृष्ण का गीतोपदेश वास्तव में जीवन दर्शन का महत्वपूर्ण पक्ष है । अकर्मण्यता को दया और हानि की ओट में छिपाने की प्रवृत्ति उस युग की महत्वपूर्ण समस्या थी । जो व्यक्ति समाज की जिम्मेदारियों को उठाने में असमर्थ हुआ, वही धर्म के नाम पर पलायन करके पूज्य बन बैठेगा जीवन की इस ज्वलन्त समस्या को गीता में बड़े खुले शब्दों में श्रीकृष्ण ने रखा—सिर्फ संन्यास से ही मुक्ति नहीं होती । समाज और राष्ट्र के कर्तव्य और उत्तरदायित्वों से भागना संन्यास नहीं, किन्तु उनको कुशलतापूर्वक निर्वाह

करना संन्यास है । इसीलिए उन्होंने योग की चलती हुई रूढ़ परिभाषा को नया मोड़ दिया—

योगः कर्मसु कौशलम्

योग अर्थात् कार्य की कुशलता—ज्ञान और अनासक्ति पूर्वक किया जाने वाला कर्म ही योग है । ज्ञानवाद को, हां उसी ज्ञानवाद को जो, जीवन से दूर भागकर मनुष्य को वाचाल और सिर्फ परोपदेश बनाता था उन्होंने 'प्रज्ञावाद' कहकर ललकारा है । ज्ञान और कर्म को जीवन सिक्के के दो पहलू के रूप में मानकर दोनों की ही अनिवार्य उपयोगिता स्वीकार की । सांख्य और योग को एक मानने वाला ही पण्डित होता है—जो अलग-अलग मानता है वह अज्ञानी है—श्रीकृष्ण की यह उद्घोषणा उपनिषद् के ज्ञानवादियों के समक्ष चुनौती थी ।

इस प्रकार युद्ध-क्षेत्र में दिया गया कर्मयोग का उपदेश जीवन क्षेत्र में लड़ने वाले हर व्यक्ति के लिए मार्ग-दर्शक है । श्रीकृष्ण का पूरा जीवन दर्शन बहुत विस्तृत है, उसका सांगोपांग विवेचन न सही, किन्तु जो कुछ हम कर पाए हैं उसमें अगर एक दो बात भी हमारे जीवन में यथार्थ हो उठी तो आपका और हमारा श्रम सफल होगा । इसमें कोई सन्देह नहीं ।

ॐ

समभावी साधक : गज सुकुमार

महाविजेता सम्राट् विक्रमादित्य के राज्य को १७७६ वर्ष बीत चुके थे, ७७ वाँ वर्ष चल रहा था । भादव का महीना था, आकाश में मेघ मालाएँ इतस्ततः दौड़ लगा रहीं थीं । आकाश बादलों से आच्छन्न था, घटाएँ उमड़-धुमड़ कर आ रहीं थीं । काली घटाओं के सदृश्य ही मेरे सिर पर काले घुंघराले बाल लहर-लहर कर लहरा रहे थे । सारा मस्तक बालों से ढका हुआ था । यह मेरा पहला लोच था । सिर का एक-एक बाल हाथ से उखाड़ना था । लोग हैरान थे कि इतना बड़ा लोच कैसे होगा ? माताएँ तथा बहनें जिनका हृदय स्वभावतः सुकोमल रहा है और जिनका स्नेह एवं श्रद्धा हमें अधिक मिलती रही है, उन्हें लोच का सोच ज्यादा था । इस तरह सब भय के वातावरण में बहे जा रहे थे । तरुण आते और पूछते—“लोच करोगे ?” और हाँ करने पर पूछते—“कैसे करोगे ?” अपने ही सिर का एक बाल बड़ी देर में उखाड़ते और दर्द का नाटक करते—“ओह ! बड़ा दर्द होता है, आप इतने सारे बाल कैसे उखाड़ोगे ?”

मेरे बाबा गुरु पूज्य मोतीराम जी म० कहते थे कि साधु बनने की कल्पना हो तो पहले विचार करना चाहिए कि उसे शूली की नोक पर चढ़ना है । कब चढ़ना होता है ? जबकि पहला लोच होता है । साधुओं को यह भय रहता है कि कहीं शिष्य पहले लोच में भड़क न जाए । अतः गुरु जन उसका लोच उस साधु से करवाते हैं, जिसका हाथ हल्का होता है । पर हाथ के हल्केपन से क्या ? आखिर दर्द तो होता ही है । बात यह है कि मन का विश्वास बना रहता है । एक बार हम विहार कर रहे थे, एक गाँव में ठहरे । फाल्गुन का महीना था, लोच कराने थे । हम में से एक साधक लोच कराने में कमजोर था, वह लोच करवाने बैठा । थोड़ी देर में दर्द होने लगा तो वह गुरुजी से झगड़ बैठा कि आपने लोच के लिए अच्छा दिन नहीं देखा । आज शनिवार को लुञ्चन करने बैठ गए, मुझे तो मार दिया । यदि सोमवार को लुञ्चन करते तो इतनी पीड़ा न होती । तत्त्वतः यह भ्रान्त धारणा है, वार या मुहूर्त पीड़ा को कभी कम नहीं कर पाते । क्या कभी ऐसा हुआ है कि शनिवार को एक व्यक्ति बेत से पीटे तब दर्द हो और

सोमवार को न हो । मार तो मार है, वह लगेगी ही; चाहे शनिवार हो या सोमवार ।

लोच का दर्द होता ही है । न तो वह सोमवार से हल्का होता है और न हल्के हाथ से । उसकी अनुभूति न होने देने में एक ही शक्ति कामयाब होती है, वह है अन्तर बल । आत्म-चेतना जागृत रहती है तो लोच सरल लगने लगता है । वेदना तो होती है परन्तु उसका संवेदन नहीं होता, पीड़ा की अनुभूति गौण हो जाती है । मैं बता रहा था, मेरा पहला लोच शुरू हुआ । एक हाथ पड़ा कि दर्द होने लगा; दूसरा, तीसरा, चौथा हाथ पड़ा तो दर्द बढ़ता गया ।

मैं आपको अपने जीवन का अनुभव सुना रहा हूँ । पहले लोच के समय दर्द से व्याकुलता बढ़ने लगी तो लोच करने वाले सद्गुरु के मुँह से गज सुकुमार मुनि की क्षमा का एक गीत-प्रवाह बह निकला । वह क्षमा की मधुर संगीत वायुमण्डल में मुखरित होने के साथ मेरे जीवन के कण-कण में गूँजने लगा । वह क्षमा का देवता मेरे अन्तर मन में साकार हो उठा । मैं उस विराट शक्ति का चिन्तन करने लगा कि जिसका बाल्यकाल सोने के महलों में गुजरा । जिसके जीवन की घड़ियाँ पुष्प-शय्या पर बीतीं । जिसका शरीर मक्खन की तरह सुकोमल था जो निरन्तर सुख के पलने में झूलता रहा । जिसने कभी दुःख की दुपहरी का दृश्य ही नहीं देखा । एक दिन वही एकान्त ञ्मशान भूमि में साधक के रूप में अविचल भाव से खड़ा है । मस्तक पर आग धधक रही है, किन्तु वह शान्त है, शीतल है ।

उस प्रवाह को जिस ओर बहाना चाहते थे, वह उस ओर प्रवाहित न होकर दूसरी ही दिशा में प्रवाहित हुआ । भारत के महासम्राट् श्रीकृष्ण छोटे भाई के लिए सुखों की दुनिया सजा रहे थे । वह राजकुमार को भोग-विलास एवं ऐश्वर्य की मजबूत बेड़ियों से बाँधने में प्रभावशील थे । तीन खण्ड के सम्राट् उसके विवाह की एवं उसके योग्य महल आदि बनाने की योजना में संलग्न थे, परन्तु होने वाला कुछ और ही था ।

उन्हीं दिनों भगवान नेमिनाथ द्वारिका पधारे । गज सुकुमार का पहले कभी भगवान् की सेवा में उपस्थित होने का प्रसंग नहीं आया । यदि कभी आया भी हो तो बताया नहीं गया । यहाँ इतना ही बताया गया है कि उन्होंने पहली ही बार भगवान् के दर्शन किए थे । कृष्ण के

साथ गज सुकुमारजी भी भगवान् की सेवा में जा रहे हैं और रास्ते में ही उसके विवाह की तैयारियाँ हो रहीं हैं । उसके लिए रानियों का निर्वाचन राज-सभा व राज-भवनों में ही नहीं किया जा रहा है वरन् श्रीकृष्ण रास्ता तय करते हुए भी उस योजना को हल कर रहे हैं और गज सुकुमार के योग्य कन्या—सोमा को कुँआरे अन्तेपुर में रखने का आदेश देते हैं । इस तरह योजना को सफल बनाते हुए वे भगवान् के समवशरण में पहुँचे ।

वहाँ भगवान की उपदेश-धारा का प्रवाह बह रहा था । उन्होंने गज सुकुमार के लिए कोई विशेष बात नहीं कही । मेघ जब कभी बरसता है तो अमुक भूखण्ड के लिए कोई निश्चित योजना बनाकर नहीं बरसता । वह तो धारा प्रवाह से वर्षा करता है एवं हर प्राणी एवं वस्तु उसे अपने रूप में परिणत करते हैं । वर्षा होते ही बीज अंकुरित हो उठता है । गुलाब उसे सुगन्ध के रूप में परिणत करता है । वही पानी धतूरे के कण-कण में प्रविष्ट होकर मादकता में परिणत हो जाता है और काँटों के पौधे में तीक्ष्ण शूलों के रूप में परिणत होता है । पानी तो सब जगह एक रूप में बरसा; परन्तु जिस जीव का, जिस वस्तु का जो स्वभाव था, वह उसे उसी रूप में आत्मसात् करने लगे । ठीक उसी तरह भगवान की उपदेश धारा सब आत्माओं के लिए समान रूप से प्रवाहित थी, परन्तु सभी श्रोता उसे अपने विचारों के अनुरूप ग्रहण कर रहे थे ।

वैराग्य

गज सुकुमार जब भगवान के दर्शन करने जा रहे थे, तब उनके मन में कुछ और ही कल्पना चल रही थी । सम्भव है, उसके मन में स्वर्ण-महल के स्वप्न चक्कर काट रहे हों, धूम-धाम के बाजे बज रहें हों, विवाह का रंगीन चित्र चित्रित हो रहा हो । परन्तु जब वह भगवान का प्रवचन सुनकर लौटा तो त्याग-विराग की भावना लेकर आया । उसके विचार बदल गए, भावों में परिवर्तन आ गया, जीवन में एक नया मोड़ आया । उसके त्यागनिष्ठ प्रवाह को बदलने के लिए बहुत प्रयत्न किया गया, परन्तु वे उसमें सफल नहीं हो सके ।

हाँ, तो गज सुकुमार को एक दिन राजमहल में देखते हैं, फिर साधु बनते हुए देखते हैं और उसी रात श्मशान-भूमि में ध्यानस्थ खड़े हुए देखते हैं । वहाँ मुर्दे जल रहे हैं, चारों ओर सन्नाटा है, आपत्तियों का सागर

गरज रहा है, परीषहों का तूफान उठ रहा है और उसके बीच वह साधक शान्त भाव से अडिग खड़ा है । सर्प, बिच्छू या हिंसक जानवर आए तो उसे क्या ? राक्षस, भूत-पिशाच का उपसर्ग हुआ तो उसे क्या ? कोई दुष्ट मनुष्य आकर सताए तो उसे क्या ? वह अभय का देवता निर्भय, निर्द्वन्द्व एवं अखेद भव से है खड़ा । उसके मन के किसी कोने में भय की, विषाद की छाया तक नहीं है । उसे तो आज जीवन का फैसला करना है । वह दृढ़ प्रतिज्ञ बन कर खड़ा है—“कार्य साधयामि देहं वा पातयामि ।” कार्य साध कर ही रहूँगा, भले ही देह गल-गल कर समाप्त हो जाए । परन्तु सिद्धित्व प्राप्त किए बिना यहाँ से एक इंच भी न हटूँगा ।

गज सुकुमार मुनि का जीवन हमारे सामने है । एक दिन में वह सारी भूमिकाओं को पार कर चुका है । बात क्या है ? क्या उसने शास्त्र पढ़े थे ? नहीं, वह द्वादशांगी का एक अक्षर भी नहीं सीख पाया था । साधु जीवन की क्रियाओं को भी वह नहीं सीख पाया । फिर भी उसे सब कुछ आ गया, वह सब कुछ जान गया । व्यवहार दृष्टि से उसने शास्त्र का अनुशीलन नहीं किया । उसने जो कुछ पढ़ा, वह था भगवान का वही एक प्रवचन । वही उसके लिए आचारांग सूत्र था और वही दृष्टिवाद था ।

जिसके अन्तस्तल में ज्ञानालोक का भास्कर प्रकाशित हो उठता है, तो फिर वे बरसों तक उन्हीं पुराने पत्रों को नहीं पलटते रहते, उन्हीं अतीत की कहानियों को नहीं दोहराते । वे तो निरन्तर आगे बढ़ते हैं, विराट् बनते हैं । अग्नि की छोटी-सी चिनगारी घास-फूस को छू जाती है तो फिर वह विराट् बनती रहती है । हवा के झोंके उसे बुझाने को आते हैं, झोंके ही नहीं, महाकाय अंधड़ आते हैं, तूफान आते हैं, फिर भी वे उसे बुझा नहीं पाते बल्कि उसे और बढ़ा देते हैं । दीपक की लौ को एक हल्का-सा हवा का झोंका बुझा देता है । क्योंकि दिए की शक्ति छोटे-से घेरे में बन्द है । अतः एक के लिए हवा का झोंका बुझाने का काम करता है तो दूसरी जगह प्रज्वलित करने का ।

जिस साधक के जीवन में चेतना नहीं है तो वहाँ सुख-दुःख के झोंके उसे बुझा सकते हैं । मान-अपमान की दोनों हवाएँ जिन्दगी को समाप्त करती हैं । तलवारें भी जिन्दगी को बर्बाद करती हैं और गले में पड़े हुए सुवासित पुष्प भी जिन्दगी को बर्बाद करते हैं ।

गज सुकुमार के जीवन में साधना की ज्वाला प्रज्वलित हो चुकी थी । उसे बुझाने के लिए सुख-दुःख के तूफान चले । माता-पिता के हजार-हजार आँसू बहते हैं ताकि पुत्र का वैराग्य उन आँसुओं में बह जाए, पर वे गज सुकुमार को अपने पथ से हटाने में सफल न हो सके; वे उस महाशक्ति को विचलित न कर सके । कृष्ण ने भी स्नेह की मधुर धारा बहाते हुए कहा—“भैया ! अभी तो तुमने यौवन में पैर रखा है, कुछ दिन दुनिया के सुखों का आनन्द लो । यदि तुम विवाह के दायित्व से बचना चाहते हो तो कोई बात नहीं, उससे मुक्त रह सकते हो । परन्तु तुम राजकुमार हो, अतः राज्य के दायित्व से मत भागो । हम तुम्हें राजा के रूप में देखना चाहते हैं । अधिक नहीं तो एक दिन का भी राज्य करो ।” यह भी एक परीक्षा थी, हवा का प्रबल झोंका था ।

राज्य

राजसिंहासन की बात सुनकर गज सुकुमार मौन रहे । कृष्ण ने सोचा साधना का वेग कुछ मन्द पड़ रहा है । उन्होंने उसे सोने के सिंहासन पर बैठाया और राज्याभिषेक कर दिया । अब बड़े-बड़े राजा महाराजा हीरे जवाहरात की भेंट लेकर आने लगे और नये सम्राट् को अभिवादन करके वह नजराना उनके सामने रखने लगे; सम्पत्ति का ढेर लग गया । कृष्ण ने देखा कि अब मेरी योजना सफल हो रही है । शहद की मक्खी फूलों की ओर जाती है तो भन-भन करती है, पर फूलों पर बैठते ही मौन हो जाती है । इसी तरह मानव भोगों से दूर रहता है तो त्याग-वैराग्य की बातें करता है, साधना की लम्बी-चौड़ी डींगे हँकता है, सभा सोसायटी तथा विधान सभाओं में क्रान्ति की सुधार की योजनाएँ रखता है, भनभनाहट करता है मानो कि बड़ा भारी तूफान मचा देगा । परन्तु जैसे ही ऐश्वर्य के निकट पहुँचता है, अधिकार की कुर्सी पर बैठता है तो उसकी आवाज बन्द हो जाती है ।

कृष्ण ने सोचा—राज्याभिषेक का नाम सुनते ही मौन हो गया तो अब यह ऐश्वर्य का अम्बार देखकर और जय-जय नाद के गगनभेदी स्वर सुनकर साधना-पथ को भूल गया होगा । नये साम्राज्य का स्वप्न देख रहा होगा । कृष्ण ने विनत होकर पूछा—“सम्राट् ! आपकी क्या आज्ञा है ? क्या किया जाए ?” कृष्ण ने सोचा कि नए साम्राज्य में अभिवृद्धि करने, भव्य भवन बनाने की आज्ञा मिलेगी । उन्हें क्या मालूम कि इसका

शरीर तो सोने के सिंहासन पर शोभा पा रहा है, राजा-रईसों का अभिवादन ले रहा है, नजराना स्वीकार कर रहा है और उसकी आत्मा त्याग-विराग के सिंहासन पर विराजमान है, वह भगवान् नेमिनाथ की गोद में जा बैठा है । हाँ, तो सम्राट ने अपना आदेश प्रसारित करते हुए कहा—“मेरी दीक्षा के लिए रजोहरण, पात्र आदि की व्यवस्था कर दें ।”

सम्राट का अध्यादेश सुनते ही श्रीकृष्ण ने कहा—“हम इस गजेन्द्र को कच्चे धागे से बाँधना चाहते थे । इन सिंहासनों ने कोटि-कोटि मनुष्यों को अपने बन्धन में बाँधा, इन भोग-विलासों के प्रलोभन में लक्ष-लक्ष आत्माएँ फँस गई । परन्तु सजग आत्मा को सोने के सिंहासन न बाँध सके । इस महादावानल को सुख साधनों के ऐश्वर्य एवं जयघोष के झंझावात बुझा नहीं सके । वह ज्वाला, जो एक बार प्रज्वलित हो चुकी थी, निरन्तर जलती रही । स्वर्ग और नरक साधक पर तभी तक शासन कर सकते हैं जब तक कि साधक आत्मभाव हृदय में न उतरा हो ।

संकल्प बल

आत्मा में जब संकल्प-बल उद्बुद्ध हो जाता है, तो साधक भयानक अटवियों को, निर्जन वनों को निर्भयता से पार कर देता है । वह काँटों की नोंक पर भी हँसता हुआ चलता है । काँटे-कंकर उसके पथ को रोक नहीं सकते । जब कभी वह महलों से गुजरता है तो मुस्कराता चलता है और झोंपड़ियों में से गुजरता है तब भी मधुर मुस्कान के साथ गुजरता है । जय नाद के बीच से गुजरता है तो मन में कोई हर्ष नहीं होता और जब चारों ओर से गालियों की वर्षा होती है, तिरस्कार की बिजलियाँ कड़कती हैं, लोग अपमान कर रहे हैं, फिर उसके मन को विषाद की रेखा छू नहीं पाती । उसके ओष्ठ पर हर समय, हर स्थिति में मधुर मुस्कान अठखेलियाँ करती रहती हैं ।

दीक्षा

हाँ, तो माता-पिता एवं ज्येष्ठ भ्राता से अनुमति प्राप्त करके गज सुकुमार साधना के पथ पर चल पड़ा । दीक्षित हो गया और उसी समय भगवान से आत्म-कल्याण का मार्ग पूछा और भगवान ने उस नवदीक्षित मुनि को आत्मकल्याण के लिए भिक्षु की १२ वीं पड़िमा बताई । उसकी

साधना के लिए अभिनव साधक निर्जन श्मशान-भूमि में गया और मन को एकाग्र करके ध्यानस्थ खड़ा हो गया ।

सिर पर आग

एक ओर हमारा दुर्बल मन है कि जरा-सी धूप लगते ही संकल्प विकल्प के झूले में झूलने लगता है । नन्हा-सा काँटा चुभते ही आँहें भरने लगता है । परन्तु वहाँ क्या हो रहा है ? मुनि के सिर पर गीली मिट्टी की पाल बाँधकर उसके अन्दर जाज्वल्यमान अंगारे रखे हैं । मांस जल रहा है, रक्त उबल रहा है, सारे शरीर में तीव्र वेदना हो रही है, फिर भी वह शान्त भाव से अचल खड़ा है । उसके मन में कोई हलचल नहीं है, किसी तरह की अशान्ति नहीं है । वह साधक जलते हुए आग के शोलों के नीचे भी हँस रहा है ।

मैं बता रहा था कि मेरा लुञ्चन हो रहा था और गज सुकुमार मुनि का संगीत चल रहा था । वह क्षमा की दिव्य क्षमा मूर्ति मेरे कण-कण में ज्योतिर्मान हो उठी । मेरा देहाभास दूर होता रहा और आत्मा में नई स्फूर्ति, नई शक्ति और अभिनव तेज जागृत होता रहा । लोच की वेदना कम हो रही थी । और इधर लोच करने वाले सन्तों ने कहा—“आज इतना ही लोच रहने दो । अवशेष एक दो दिन बाद कर देंगे ।” भाइयों ने भी आग्रह भरी विनती की कि अवशेष, लोच दो-तीन दिन ठहर कर करा लेना । बहनों ने भी इसी बात का समर्थन किया । परन्तु मैंने दृढ़ स्वर में कहा—‘नहीं, ऐसा नहीं होगा’ । मैं लोच कराए बिना एक इञ्च भी नहीं हटूँगा । मुझे लोच का फैसला दो तीन दिन की दूरी पर नहीं छोड़ना है, आज ही, इसी वक्त फैसला करना है । और मैंने बिना किसी खेद के, बिना द्वन्द्व के शान्त-भाव से सारा लोच कराया । दर्द अवश्य हुआ, परन्तु संवेदन की अनुभूति मन्द पड़ गई । वह सहन शक्ति कहाँ से आई ? गज सुकुमार मुनि के जीवन से । यह ध्वनि मेरी आत्मा में गूँजती रही —

“मुनि नजर न खंडी हो, मेटी मन की झाल ।”

मस्तक पर आग जल रही है और अन्तर में चिन्तन मनन चल रहा है । शरीर में चपलता नहीं, विचारों में चंचलता नहीं, भावना में आक्रोश नहीं और मन में दुःसंकल्प नहीं । दृष्टि में सौम्यता है, मन में वही वीतराग भावना है । श्रीकृष्ण और माता के प्रति जो भावना बरस रही

है वही सुकोमल भावना सोमल के प्रति है । उस क्षण के देवता ने मन की सारी झाल बुझा दी, काम क्रोध पर विजय पा ली ।

मन की झाल को शान्त करना सहज नहीं । बड़े-बड़े योगिराज भी असफल हो जाते हैं । उसे बुझाने के लिए क्षमा की, सहिष्णुता की शक्ति चाहिए । आज तो जरा-जरा सी बात पर मन में विकारों की झालें उठती हैं । दूकान पर जाने की तैयारी में है, भोजन में चन्द मिनट की देर हुई कि पत्नी पर बरस पड़े । तुम समय पर भोजन भी नहीं बना सकतीं ! हमें दूकान पहुँचने में देर हो रही है । आपने पीने को पानी माँगा और उधर बच्चा रो रहा है । वह उसे चुप करके पानी ला रही है, पर आप दो चार मिनट भी सन्तोष नहीं रख पाते । एक दम चिल्ला उठते हैं—मैं तो प्यास से मरा जा रहा हूँ और तुम लगी बच्चे को खिलाने । तो आप एक मिनट की देरी भी नहीं सह सकते । पत्नी को, बच्चों को आपके आदेश का तुरन्त पालन करना चाहिए, वह बच्चे को खिला नहीं सकती, रोते हुए बच्चे को पुचकार नहीं सकती, यदि आपका काम है तो । इसी तरह बाजार में किसी ने कुछ कह दिया तो एक दम पारा चढ़ गया और जोश में तन कर गरज पड़े—“किससे बात कर रहे हो ? जानते नहीं, मैं कौन हूँ ?”

कषाय

हाँ, तो मन में कषायों की आग जल रही है और उसकी लपटों से व्यक्ति जल रहा है, समाज जल रहा है, संघ जल रहा है, जाति-बिरादरियाँ जल रही हैं, पंथ एवं संप्रदाय जल रहे हैं । इसी मन की ज्वालाओं के कारण महाभारत का विनाशकारी युद्ध हुआ । इसी मन की ज्वाला में हिटलर, मुसोलिनी और नेपोलियन को जलते देखा । इसी मन की ज्वाला में दो-दो विश्वयुद्ध होते देखे । इसी मन की ज्वाला ने बम, एटम बम, अणु बम और उद्जन बम का निर्माण दिया, विषाक्त अणु आयुधों का संचय किया ।

बाहर की आग इतनी भयंकर नहीं है । वह तो एक बार जल कर कुछ देर में बुझ जाती है । किन्तु मन में लगी यह आग निरन्तर जलाती रहती है । दिन में लड़ते हैं और रात में भी झगड़ते हैं । जागते हुए संघर्ष करते हैं और सोते हुए भी युद्ध के सपने देखते हैं । नींद में भी बरगलाते रहते हैं, गालियाँ बकते रहते हैं । एक क्षण के लिए भी मन में चैन नहीं, शान्ति नहीं, आराम नहीं । मन की आग बढ़ रही है और हम

आत्म-भाव से दूर भटक गए हैं, बहुत दूर पड़ गए हैं । इसी से हमारे मन में जलन है, पीड़ा है, दर्द है, अशान्ति है ।

क्षमा

वह क्षमा का देवता हमें सजग कर रहा है कि तू अपने आप को पहचान । तुम्हारी आत्मा अजर-अमर है शरीर को कोई जला दे तो क्या ? शरीर को जलाने से आत्मा जल नहीं सकती । शरीर का खण्ड-खण्ड करने पर भी आत्मा खण्डित नहीं होती । आग शरीर को जलाती है, पर आत्मा को जलाने की शक्ति उसमें नहीं है ।

गज सुकुमार मुनि के मस्तक पर रखी हुई आग प्रतिपल बढ़ रही थी । शरीर के रक्त को चूसने के लिए उसकी सहस्र जिह्वाएँ लपलपा रही थीं । परन्तु भीतरी आग बुझ गई थी । राग-द्वेष की, काम-क्रोध की आग बुझ चुकी थी यदि वह जरा-सी टेढ़ी नजर से सोमल को देख लेता, तो वह उसके सामने ठहर नहीं सकता । परन्तु उस क्षमाश्रमण ने अपनी शक्ति का उपभोग उस पथ-भ्रष्ट ब्राह्मण को भस्म करने में नहीं बल्कि कर्म कचरे को जलाने में किया ।

गज सुकुमार का जीवन केवल पर्युषण के दिनों में एक दिन सुनने एवं सुनाने के लिए नहीं है । वह क्षमा अवतार तो हमारे जीवन का साथी है, उसकी स्मृति हर साँस में बनी रहनी चाहिए । कष्ट के समय जब कभी वह याद आता है तो दुखों के रेगिस्तान को पार करने में उससे जीवन में प्रेरक शक्ति मिलती है । विहार कर रहे हैं, सूर्य तप रहा है, गर्मी बढ़ रही है, प्यास सता रही है अब भी गाँव दूर है, कदम उठाने कठिन हो रहे हैं; उस समय वह क्षमा-सागर याद आता है तो उससे लड़खड़ाती हुई जिन्दगी में दुर्बल मन में अपूर्व शक्ति आ जाती है, नई चेतना जाग उठती है । उसका यह ज्योतिर्मय सन्देश हमारे मन में साकार हो उठता है कि जिन्दगी का महत्व दुःख की तप्त दुपहरी में बढ़ते रहने में ही है, शान्त मन से मार्ग तय करने में है । गीदड़ की तरह रोते-तड़पते एवं आँसू बहाते हुए पलायन करने में क्या धरा है ?

एक साधक उल्लास के साथ साधु का बाना धारण करता है । परन्तु जरा-सी दुःख की हवा लगते ही भाग खड़ा होता है; तो वह हतभागा है । पलायन तो नहीं कर सकता पर अन्दर में रोते हुए जिन्दगी गुजार रहा है; तो उससे अधिक हतभागा कौन होगा ? भागना

भी हिम्मत का काम है, उसमें भी साहस होना चाहिए । कुछ साधक अन्दर ही अन्दर रोते हैं, पाप-वासना में घूमते रहते हैं, छुप कर दुराचार का सेवन करते हैं, कमजोरियों का पोषण करते हैं, परन्तु पुनः गृहस्थ-जीवन में लौट नहीं पाते । परम्पराओं के कुछ ऐसे दृढ़ बन्धन हैं, जिससे वे उस ओर मुड़ने का साहस नहीं कर पाते । इस तरह वे अपने आपको धोखा देते हैं, पतन के गर्त में गिराते हैं और समाज, संघ एवं धर्म को भी लजाते हैं ।

अस्तु, हमने जो प्रतिज्ञाएँ स्वीकार की हैं, चाहे वे साधु-धर्म की हों या श्रावक धर्म की हों, छोटी प्रतिज्ञा हो, तप, नियम, व्रत जो भी स्वीकार किया है उस पथ पर दृढ़ता के साथ गति-प्रगति करें । यदि साधना के पथ पर चलते हुए दुःख आ जाए, कष्ट आ जाए, आपत्ति आ जाए तो उस समय मन में क्षमा-श्रमण गज सुकुमार का चिन्तन करो । यदि निष्ठापूर्वक उसे याद करोगे और धैर्य, साहस एवं सहिष्णुता के साथ अपने पथ पर खड़े रहोगे, अपनी प्रतिज्ञा पर खड़े रहोगे तो तुम्हारे अन्दर आलोक का प्रभास्वर चमक उठेगा । तुम्हारी संकल्प शक्ति दृढ़ रही तो तुम्हारा पथ प्रशस्त बनेगा, विपत्ति संपत्ति के रूप में परिवर्तित होकर रहेगी । हाँ, एक बात अवश्य है कि विकारों पर विजय पाने के लिए, कष्टों को सहने के लिए किसी अच्छे वार या शुभ-मुहूर्त की आवश्यकता नहीं, आवश्यकता है आत्मशक्ति जो जागृत करने की । संकल्प बल को दृढ़ बनाने की और निर्भय तथा निर्द्वन्द्व बनकर साधना पथ पर चलने की । यदि आप उल्लास के साथ अपने मार्ग पर सतत गतिशील हैं, तो भले ही शनिवार हो या कोई अशुभ वार हो, खराब मुहूर्त हो, क्रूर गृह नक्षत्र हो, आपका कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता ।

धर्म-निष्ठा

वस्तुतः मानव मन की दुर्बलताएँ ही मानव को पथ-भ्रष्ट बनाती हैं सबल आत्मा के लिए कहीं दुःख नहीं, पीड़ा नहीं, वेदना नहीं । मानस में यदि धर्म के प्रति अनन्य निष्ठा है तो दुःख में भी दुःख की अनुभूति नहीं होती । आज का साधक क्यों बड़बड़ाता है, जीवन की पगडंडियों पर एक दो काँटे भी चुभ जाते हैं तो क्यों चौंक उठता है ? जरा-जरा सी बात पर भाई-भाई में, समाज एवं संघ में संघर्ष क्यों होता है ? इसका अर्थ है कि गज सुकुमार जैसी प्राण-निष्ठा, क्षमा धर्म के प्रति निष्ठा जागृत नहीं हुई ।

स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय लोगों के मन में कितना जोश था ? बच्चे चल रहे हैं, युवक और वृद्ध चल रहे हैं, बहनें चल रही हैं, गोली ताने लोग सामने खड़े हैं, पर उन्हें कोई परवाह नहीं । पिस्तौल का निशाना बनाते हैं पर झण्डा हाथ से गिरने नहीं देते । एक का स्थान दूसरा ग्रहण कर लेता है । वहाँ वे किसी लोभ-लालच से नहीं गए । उन्हें मालूम है कि वहाँ फूलों की वर्षा नहीं होगी, गोलियाँ झेलनी होंगी सीने पर । फिर भी वह आजादी का भूखा युवक आगे बढ़ता है मौत का आलिंगन करने के लिए । तो ऐसी निष्ठा जब तक नहीं होती, तब तक साधक, साधक नहीं हो सकता, वह कुछ नहीं हो सकता ।

महाराष्ट्र के मराठा स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ रहे थे । शिवाजी उनके नेता थे । उनकी गाथाएँ, आत्म-बलिदान की कहानियाँ, इतिहास के पन्नों पर लिखी हैं । युद्ध चल रहा है, भूख-प्यास की परवाह नहीं है, पर सेनाओं का संचालन सुचारु रूप से करने के लिए भाग-दौड़ जारी है । कहाँ आराम करें ? कहाँ सेज बिछाए ? आराम करना है तो वहीं घोड़े की पीठ है । चलना है तो वही घोड़े की पीठ है, अगर निद्रा का झोंका आया तो भी घोड़े की पीठ है और सोने के लिए भी घोड़े की पीठ है । तो यह अजीब निष्ठा है, चमत्कारिक निष्ठा है । यह निष्ठा जब किसी व्यक्ति में, साधक में, किसी समाज या राष्ट्र में जागृत होती है तो वह निष्ठा उस व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र की दुनिया ही बदल देती है । वे निष्ठावान् व्यक्ति संसार का नक्शा बदल देते हैं, जीवन का नक्शा बदल देते हैं ।

आज की ये संस्थाएँ सूनी-सूनी क्यों नजर आ रही हैं ? आज की धार्मिक-क्रियाएँ और जीवन की लड़ाई के मोर्चे क्यों सूने हैं ? कुछ उस पर लड़ते दिखाई भी दे रहे हैं पर वे लड़खड़ाते कदमों से लड़ रहे हैं, सूने मन से लड़ रहे हैं । अगर उनका मन जागृत हो जाए और धर्म की सच्ची प्यास लग जाय तो दृढ़ता आते देर नहीं लगती । गणधर गौतम महावीर के पास पहुँचे तो क्या हुआ ? गुरु ने शिष्य का अन्वेषण नहीं किया । शिष्य ही ढूँढ़ता है गुरु को । ज्ञान-पिपासु या जिज्ञासु के पास नहीं जाता, जिज्ञासु को ही जाना पड़ता है ज्ञान के पास । इन्द्रभूति गौतम माने हुए विद्वानों में से थे, ४४०० उनके अनुयायी थे । एक पार्टी पहले जाती है भगवान से शास्त्रार्थ करने के लिए और वह वहीं रह जाती है, वापिस लौटने का नाम नहीं । क्रमशः दूसरी और तीसरी पार्टी भी जाती है पर सब जा रहे हैं लौटता कोई नहीं । स्वयं इन्द्रभूति,

ग्यारह गणधर भी जाते हैं पर वे भी भगवान के समीप दीक्षित हो जाते हैं, लौटता कोई नहीं । इसे कहते हैं धर्म-निष्ठा, ज्ञान की सच्ची भूख और प्यास । यह सच्ची प्यास अन्तर में जागृत हो जाए तो काम बने ।

उत्तर प्रदेश में एक कहानी प्रचलित है । एक बार सान्ध्य-वेला में सारे पतंगे इकट्ठे हो गए, गाँव के बाहर । उनमें बातचीत हुई या नहीं, यह तो कौन कह सकता है । हुआ क्या ? पतंगों के बीच कहीं से पतंगों के समान पंख वाले दो चार कीड़े भी आ घुसे । उन्हें देखकर पतंगों में फुसफुस शुरू हो गई । कहने लगे कि ये तो पतंगे मालूम नहीं होते । जब पतंगे नहीं हैं तो पतंगों की सभा में आकर बैठने का इन्हें क्या अधिकार है ? आखिरकार सभापति तक वह समस्या पहुँची । सभापति ने आवाज लगाई और कहा कि अब रात हो गई है, अतः जरा गाँव में चलकर देखना चाहिए कि दीपक जले या नहीं ? सर्वप्रथम उन कीड़ों से कहा गया जो पतंगों के रूप में आ बैठे थे । सभापति बोला—“जरा जाओ तो सही, पता लगाकर आओ कि दीपक जले या नहीं ?” वे कीड़े गए और जलते हुए दीपक देखकर लौट आए । सभापति को सूचना दी कि दीपक जल गए । पूछा सभापति ने “दीपक जल गए ? और तुम पतंगे हो ?” “हाँ” उत्तर मिला ।

दीपक जल जाए और पतंगा प्रज्वलित दीपक को देखकर लौट आए ? और फिर वह पतंगा होने का दावा करे ? गलत बात है, तुम पतंगे नहीं हो ।

कीड़ों ने कहा—“नहीं साहब ! दीपक जल रहा था, हम देखकर आए हैं, सचमुच जल रहा था ।”

“देखा है तुमने जलते हुए दीपों को ?”

“जी देखा है, अच्छी तरह देखा है ।”

“और तुम देखकर आ गए हो, इसलिए तुम्हारी परिभाषा यह कहती है कि तुम सच्चे पतंगे नहीं हो । दीपक जल रहा है, ज्योति जल रही है, मैदान में पतंगों की भीड़ लग रही है, पर क्या पतंगा प्रकाश को देखकर लौट आएगा ? नहीं, वह तो जल पड़ेगा उस पर, प्राण न्योछावर कर देगा, अपना अंग-अंग उस पर जला देगा, मौत का आलिङ्गन करने को कटिबद्ध होकर भी अपने को होम देगा उस दीपक पर, किन्तु वह लौट कर आ नहीं सकता । तुम लौट आए हो, पतंगे हो तुम ।

उन्होंने कहा—“तुम दूसरों की भी परीक्षा करके देखो ।”

सभापति ने इस बार वास्तविक पतंगों को भेजा । एक पार्टी गई, वह नहीं लौटी, दूसरी गई वह भी नहीं लौटी । वे सब पतंगे दीपक को देखकर सुध-बुध भुला बैठे, सूचना देने के लिए भी लौट न सके । यह भी उन्होंने नहीं सोचा कि चलकर सूचना तो दे दें ।

यह एक अलंकार है, रूपक है । यह कहानी हमें प्रेरणा देती है कि धर्म का दीपक, धर्म की ज्योति जल रही है । अहिंसा का, सत्य का, दया-दान और तपस्या का दीप जल रहा है; वह पतंगे नहीं हैं, जो पर्युषण पर्व आने पर भी इधर-उधर घूम रहे हैं, बड़ी-बड़ी बातें कर रहे हैं, पर सर्वस्व न्योछावर करने को आगे नहीं आ रहे हैं । संसार का विराट् प्रकाश, धर्म की महान् ज्योति जगमगा रही है और धर्म के दीवाने साधक—साधु या श्रावक प्रकाश के मार्ग में आगे नहीं बढ़ रहे हैं तो वे सच्चे पतंगे नहीं हो सकते । यह पर्युषण-पर्व अध्यात्म के पतंगों की परीक्षा का समय है ।

हाँ, तो जब आप सच्ची निष्ठा से आगे बढ़ेंगे, इस ज्ञान के, तप के और धर्म के जगमगाते हुए पर्व-दीप में अपनी सद्भावनाओं की आहुतियों को अर्पण करने के लिए, इस दीप की प्रदक्षिणा करने के लिए और जरा जलने का आनन्द लेने के लिए इसके अन्दर प्रवेश करेंगे, तभी सच्ची शान्ति का अनुभव होगा । अतः जीवन में शक्ति प्राप्त करें, अपने आपको सबल बनाएँ, फिर सिद्धि का द्वार आपके लिए खुला है ।

ॐ

अतिमुक्तक की मुक्ति

बौद्ध साहित्य में थेर गाथा और थेरी गाथा नाम से दो लघु ग्रन्थ हैं, जिनमें अनेक भिक्षु एवं भिक्षुणियों के जीवन से सम्बन्धित प्रेरक घटनाएँ और उनकी मस्ती एवं अनुभूति में परिपूर्ण सुन्दर वचनावली का संकलन किया गया है। उसको पढ़ने पर मालूम होता है कि उस युग में पुरुषों की तरह नारी में कितनी चेतना जागृत हुई थी, तत्त्व ज्ञान की गंभीरता और दुर्धर्ष त्याग मार्ग का अवलंबन करने की शक्ति पुरुषों से किसी भी प्रकार कम नहीं थी। बौद्ध साहित्य के उपरोक्त दो ग्रन्थों को जब जैन-आगमों के आठवें अंग ग्रन्थ अन्तकृत् दशा के समक्ष रखते हैं तो ऐसा लगता है कि जैन साहित्य की यह महाथेर गाथा है। आज उसमें सिर्फ चरित्र भाग ही अवशिष्ट रहा है, जिसमें बड़ी संक्षिप्त शैली में अनेक राजकुमारों और राजरानियों के त्याग, तपस्या और कष्टों की रोमांचक गाथाएँ मात्र बची हैं, किन्तु हो सकता है किसी समय में उन महान साधकों की साधना से प्राप्त मस्ती और अपूर्व अनुभूतिपूर्ण वचनावलियाँ भी उसमें रहीं हों, जिनका महत्वपूर्ण भाग आज विलुप्त हो गया है। किन्तु जो जीवन-गाथाएँ बची हैं, वे भी बहुत ही प्रेरक हैं, उनमें जीवन का सत्य है, साधना का सही स्वरूप है। उनमें भोग-विलास के कीचड़ में पैदा होने वाले कमल की कहानियाँ हैं, जिनका सौरभ आज हजारों वर्षों के बाद भी मन के कण-कण में सुगन्ध भर रहा है।

अतिमुक्तक

कुछ महान पुरुषों और महान नारियों की चर्चा कर चुकने के बाद अब हम उस अलबेले और उस लाड़ले राजकुमार की गाथा पढ़ते हैं, जिसका बचपन फूलों की तरह खिला, आमोद-प्रमोद में बीता और वही बचपन वैराग्य के कठोर और गहन मार्ग पर चल पड़ा।

पूर्व भारत में पोलासपुर नगर था। यह कहाँ था कैसा बसा था—इस विषय को लम्बाने से कोई तथ्य हाथ नहीं लगेगा, चूँकि ऐतिहासिक दृष्टि से यह चर्चा ठीक हो सकती है, किन्तु इससे घटना का मूल अभिप्राय थोड़ा दूर हट जायेगा। अभी हम इतना ही मान लें कि वह एक अच्छा नगर था, और इस प्रान्त की राजधानी भी थी। भगवान महावीर के

हजारों श्रावक उस नगरी में बसते थे, वहाँ का राजा विजयसिंह और रानी श्रीदेवी भी भगवान महावीर के श्रावक थे । राजकुमार का नाम था, अतिमुक्तक कुमार ।

भगवान महावीर जनपद में विहार करते हुए पोलासपुर में पधारे । गौतम स्वामी भगवान के प्रथम गणधर थे । उनके प्रमुख शिष्य थे । १४ हजार साधुओं और २६ हजार आर्याओं के संघ के संचालक और प्रमुख थे, किन्तु इतने बड़े होने पर भी उनके जीवन में वही सरलता और वही सादगी थी, जो कि एक सामान्य मुनि के जीवन में होती है । बहुत बार देखा जाता है कि मनुष्य के त्याग को महत्त्व देकर उसे प्रतिष्ठा दी जाती है, किन्तु धीरे-धीरे वह प्रतिष्ठा, अधिकार और सत्ता, उसके त्याग को निगलना शुरू कर देती है, जीवन में सिर्फ प्रतिष्ठा और अधिकारों की होड़ रह जाती है, त्याग का महत्त्व चला जाता है । गौतम स्वामी के पास बहुत अधिकार थे, प्रतिष्ठा और सम्मान था, किन्तु अधिकार और प्रतिष्ठा के पानी से सदा ही कमल की भाँति निर्लेप रहे । उनकी महानता ने उन्हें अपने आपको कभी महान नहीं मानने दिया, वे अपना प्रत्येक काम अपने हाथ से करते, बेले-बेले तपस्या करते और पारणे के लिए स्वयं ही हाथ में झोली लिए घर-घर में घूमकर भिक्षा लेते । क्या भगवान महावीर के १४ हजार शिष्यों में कोई भी ऐसा शिष्य नहीं था, जो गौतम स्वामी को भिक्षा लाकर देता । वास्तव में बात यह नहीं थी कि कोई दूसरा लेकर देता है या नहीं, किन्तु वहाँ पर भी श्रम अपने श्रम और निर्जरा का था । जैन श्रमण—यदि अपनी 'श्रम' की परम्परा को छोड़कर चले तो फिर 'श्रमण' की सार्थकता ही क्या हुई ? जैन दर्शन की यह खूबी है कि वहाँ 'श्रम' के साथ 'कर्तव्य' और कर्तव्य के साथ कर्म निर्जरा की भावना इस प्रकार गुथी हुई है कि न तो श्रम कठोर लगता है और न ही कर्तव्य कोई भार होता है । प्रत्येक श्रमण अपने कर्तव्य में रस आनन्द लेकर करता है । उसे यदि दूसरे की सेवा का अवसर भी मिलता है तो उसे बड़ी खुशी होती है कि उसे कर्म निर्जरा का एक और अवसर मिला है । कर्तव्य पालन करने की दृष्टि से हर कोई कर सकता है, किन्तु उस कर्तव्य पालन में भी जो आनन्द की अनुभूति होनी चाहिए वह हर कोई नहीं कर सकता । जैन श्रमण की यही तो वह विशेषता है कि वह सेवा करने में आनन्दानुभूति करता है, जब यह आनन्दानुभूति अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है तो वह उस मस्ती में झूमता हुआ तीर्थकर गोत्र भी प्राप्त कर लेता है । हाँ, तो इसीलिए

गौतम स्वामी अपने सभी काम स्वयं ही करते थे । भगवान महावीर के साथ वे पोलासपुर नगर में आए और भिक्षा का समय होने पर भगवान की अनुमति लेकर भिक्षा के लिए चल दिए ।

चल दिए अँगुली पकड़े

नगर के मध्य में एक क्रीड़ा स्थल बना हुआ था, जिसे उस युग की भाषा में 'इन्द्रध्वज' या 'इन्द्रप्रस्थान' कहते थे । आज की भाषा में वह एक पार्क था, जिसमें बच्चे, युवक खेलकूद करते थे । उसी पार्क में बच्चे खेल रहे थे और गौतम स्वामी उधर से गुजरे । गौतम स्वामी को वहाँ से गुजरते बहुत से बच्चों ने देखा होगा, किन्तु देखकर भी सब अपने खेल में मग्न थे, एक बच्चा वहाँ से खिसक कर गौतम स्वामी की ओर दौड़ा और उसने गौतम स्वामी को प्रणाम किया । उसने ऐसी वेशभूषा जीवन में पहली बार देखी थी, इसलिए मन में कुतूहल हो रहा था; किन्तु फिर भी उसके संस्कार इतने ऊँचे थे कि वह भले ही वंदना की विधि न जानता हो किन्तु सभ्यता तो जानता ही था ? गौतम स्वामी के शांत व तेजस्वी मुख मण्डल से वह प्रभावित हो गया । और हाथ जोड़कर उनसे प्रश्न किया—आप कौन हैं ? और किसलिए घूम रहे हैं ?

ये प्रश्न यद्यपि एक बालक ने किए हैं, किन्तु आदि काल से साधु के सामने उपस्थित होते रहे हैं । उसकी वेशभूषा समाज से एक दम भिन्न है, गृहस्थ जहाँ रंगबिरंगे फैन्सी कपड़े पहन कर अपने शरीर को सजाना चाहते हैं वहाँ साधु सिर्फ सफेद कपड़े सादे और सीधे ढंग से पहने घूमता है, जो उसके नियम नहीं जानते उन्हें अवश्य ही आश्चर्य होता है, और फिर घर-घर पर भिक्षा के लिए घूमना । जबकि एक या दो घर में ही उसे पेट भर भिक्षा मिल सकती है वह क्यों घर-घर में घूमता है ?

भगवान गौतम ने राजकुमार की यह मुग्धता, यह सुकुमार और सरल आकृति और जानने की उत्सुकता देखी तो वे भी बरबस उसकी ओर खिंच गये । उन्होंने कहा—देवानुप्रिय ! हम श्रमण निर्ग्रन्थ हैं । शरीर निर्वाह के लिए जो भोजन चाहिए उसके लिए घर-घर घूमकर थोड़ा-थोड़ा भोजन लेते हैं ।

राजकुमार इस उत्तर से बहुत खुश हुआ और कहने लगा आप हमारे घर चलिए और मेरी माँ आपको देखकर, तथा भिक्षा देकर बहुत आनन्दित

होगी । यह कह कर उसने गौतम स्वामी की अँगुली पकड़ ली और कहने लगा—चलिए ना, मैं बताता हूँ अपने घर का रास्ता । उस बच्चे को अपनी माँ पर इतना विश्वास था कि वह एक अनजान अतिथि को निमन्त्रण देकर ले जाता है, तो घर पहुँचने पर उसकी माँ अतिथि की अवज्ञा नहीं करेगी, किन्तु हर तरह से उसका आदर सत्कार करके उसे संतुष्ट करेगी । यह संस्कारों की बात है कि उसके हृदय में इस प्रकार नये अतिथि को देखकर दान का संकल्प जगा और उसे घर सोने का आग्रह करते मन में संकोच नहीं हुआ । वास्तव में यह संस्कार माँ बाप की आत्मा की विशालता के द्योतक हैं । जिस बच्चे के माँ बाप मूँजी होते हैं, चिड़-चिड़े स्वभाव के होते हैं, उनके बच्चे भी वैसे ही संस्कार वाले होते हैं । वे खाने पीने की तुच्छ बातों के लिए झगड़ते रहते हैं । दिन भर कुहराम मचाए रखते हैं, खाने पीने को बहुत कुछ होते हुए भी वे एक-दूसरे को भूखे भेड़िये की तरह घूरते रहते हैं, छीना झपटी करते हैं । माँ बाप बच्चों की इन आदतों से झुंझलाते तो जरूर हैं उन्हें गालियाँ भी देते हैं, पीटते हैं किन्तु यह जानने की चेष्टा नहीं करते कि बच्चों में ये संस्कार आए कहाँ से ? कौन-सी पाठशाला में उन्होंने यह सब सीखा ? आखिर माँ बाप के भावों, और व्यवहारों से ही तो उन में ये संस्कार पड़े हैं । इसके लिए वे ही तो जिम्मेदार हैं । मैंने देखा है कि कुछ माँ बाप अपनी संतान को जहर का इंजेक्शन देते रहते हैं, उनमें घृणा, कलह, द्वेष और दुर्भावना भरते रहते हैं, उन्हें वे एक दूसरे से झगड़ते रहने वाली गली के कुत्तों के रूप में निर्माण करते हैं । और फिर चाहते यह हैं कि उसके पुत्र संसार में देवता की तरह पुजवाएँ । किन्तु यह तभी सम्भव है जब वे उनसे अमृत का इंजेक्शन भरेंगे । वे सिर्फ यही नहीं सोचेंगे कि हमने एक शरीर को जन्म दिया है, और उस शरीर का समुचित पालन पोषण एवं विकास करना है, बल्कि यह समझेंगे कि उन्होंने एक महान आत्मा को जन्म दिया है, उसकी आत्मा का समुचित विकास करने की जिम्मेदारी हमारी है । जिस फूल को अंकुरित किया है, उसकी-देख-रेख करना उसे बगीचे की शान बनाना हमारा काम है । जो माता-पिता इस प्रकार का अनुभव करते हैं, निश्चय ही उनकी संतान महान् होती है ।

कुछ लोग कहते हैं कि बच्चे की शिक्षा पालने से प्रारम्भ हो जाती है, कुछ कहते हैं वह गर्भ से ही शुरू हो जाती है, किन्तु वास्तविकता तो यह है कि उनका निर्माण उससे भी पहले ही शुरू हो जाता है,

धीरे-धीरे वे परिपक्व होते जाते हैं । जिनके माता-पिता उदार होता हैं, अतिथि और अभ्यागतों का सत्कार करना जानते हैं, उन्हीं की संतान गौतम जैसी महान् आत्मा के मिलने पर रास्ता चलते भी निमंत्रण दे सकते हैं । हमारी माताओं में जब अच्छे संस्कार होंगे तो उनके पुत्र-पुत्रियाँ स्वयं ही संस्कारी और सभ्य बन जायेंगे इसमें कोई शक नहीं । श्रीदेवी का हृदय विशाल था, हाथ उदार था और वाणी मीठी थी । इस प्रकार उसके हृदय हाथ और मुँह तीनों में ही अमृत ही अमृत भरा था तो क्यों न उसके लाड़ले पुत्र में ये गुण स्वयं ही आते ?

नया चिन्तन

गौतम स्वामी की अंगुली पकड़े अतिमुक्तक राजमहलों की ओर आ रहा था, उसका मन आज न जाने क्यों बहुत प्रफुल्लित हो रहा था, गौतम स्वामी के प्रति उसके मन में एक सहज आकर्षण खिंचाव और स्नेह पैदा हो रहा था, जैसे उसे अपना सखा मिल गया हो और हठ करके उसे घर पर बुला रहा हो । राजधानी में गौतम स्वामी का यों चलना एक बड़ी बात थी । कौन क्या कहेगा इसकी परवाह किए बिना वे एक तमाशा बना कर चलते रहे । और अंगुली छुड़ाने का प्रयत्न नहीं किया, यह भी एक गम्भीर प्रश्न है ? कुछ व्यक्तियों ने इस पर कुछ प्रश्न भी किए हैं कि जब यह बात उनकी परम्परा के प्रतिकूल थी तो ऐसा क्यों किया ? क्यों अपनी अंगुली छुड़ाई ?

मैं समझता हूँ यह परिपाटी कुछ नया चिन्तन देती है । परम्परा और परिपाटी के नाम पर जो अंधविश्वास और व्यामोह चलता है उसे ललकार कर रही है । उन्होंने परिस्थिति देखी, बालक की भावनाएँ देखी, इस बालक के हृदय में श्रद्धा के अंकुर फूटने लगे हैं, यदि उन्हें अवज्ञा का हल्का-सा धक्का भी दिया गया तो वे कुचल जायेंगे । उन्होंने सोचा मर्यादायें तो मेरे पास में हैं, वह छुई-मुई नहीं कि बच्चे के अंगुली पकड़ लेने से समाप्त हो जाएँ ? मर्यादा और परम्परा का उद्देश्य है—कि वह जीवन में व्यवस्था बनाए रखें न कि जीवन को उसी पर घसीटते ले जाएँ । महापुरुषों का जीवन प्रवाह शास्त्र पुस्तक या किसी बने बनाये मार्ग पर ही नहीं चलता बल्कि वह नये मार्ग का निर्माण भी करता है । जिस रास्ते से वे चलते हैं, वही रास्ता हजारों मनुष्यों के चलने का मार्ग बन जाता है । एक कवि ने क्या खूब कहा है —

यदि पथि विपथे वा यद् ब्रजामः स पन्थाः

हम जिस उल्टे टेढ़े रास्ते से गुजर गये वही मार्ग बन गया । यह सिर्फ कवि की मस्ती ही नहीं वास्तविक बात है । झरना जब सर्वप्रथम पहाड़ों से फूटकर प्रवाहित होता है, तो वह पहले से बने बनाए किसी मार्ग से नहीं गुजरता बल्कि नया मार्ग बनाता हुआ आगे बढ़ता है । जब इस धरती पर नदियाँ उतरीं तो किसी ने पहले मार्ग बनाकर उन्हें रास्ता नहीं बताया । महापुरुष जब इस संसार में आते हैं तो किन्हीं पिते पिटाए विचारों और बने बनाए रास्तों पर चलने के लिए नहीं आते, बल्कि नये निर्माण के लिए आते हैं । देश, काल, और परिस्थितियों को देखकर अपने मार्ग का निर्माण करते हैं । इसीलिए तो आगमों में स्थान-स्थान पर मुनि के लिए कहा गया है —

खित्तं कालं च विनाय, तहप्पाणं निउंजए । देश, काल को समझते हुए जीवन-यात्रा को बढ़ाते चलो ।

आज परम्परावाद और प्रगतिवाद में एक प्रकार का संघर्ष छिड़ रहा है, एक ओर पुराण पंथी परम्परा-प्रिय महाशय परम्परा के नाम पर जो कुछ भी पुराना है उस सब को चलाए रखना चाहते हैं । वे परम्परा का तत्त्व नहीं समझते, उसकी जीवनी शक्ति को नहीं देखते, सिर्फ सिर पर परम्परा का भार रहना चाहिए चाहे वह जीवित हो, या लाश । यही उनका आग्रह है । आज बीसवीं शताब्दी में वे जीते हैं, किन्तु फिर भी उनका आग्रह है कि उनके आचार-विचार तो पहली-दूसरी शताब्दी से ही बंधे रहें । विज्ञान की नई उपलब्धियाँ और नये सत्य को जीवन के अनुरूप पाते हुए भी वे उन्हें स्वीकार करने में संकोच, और शर्म महसूस करते हैं । एक तर्क जहाँ परम्परावाद का आग्रह विग्रह का बीज बन रहा है, वहाँ दूसरी ओर प्रगतिवाद की उच्छृंखलता और हठ उस संघर्ष की ओर अधिक भड़का रहा है । जो प्रगतिवाद परम्परा के नाम पर शाश्वत सत्यों की भी अवहेलना करता है, सही मायने में वह प्रगति नहीं, अवनति है । यह आग्रह कि जो कुछ पुराना है तोड़-फोड़ कर गिरा दिया जाय और नया सृजन किया जाय विवेकपूर्ण नहीं है । परम्परा और प्रगति की उलझन का सही हल यही हो सकता है कि जीवन में हम उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य की त्रिवेणी को चरितार्थ करें । जो पुराना है, गल गया है, जिसको दबाए रखने से सड़ांध पैदा होने का डर है; उसे 'व्यय समाप्त' कर दिया जाय । जिन परम्पराओं से समाज और धर्म को हानि हुई है, उसकी प्रगति रुकी है उनको

मिटाया जाय और उसके स्थान पर नई परम्पराएँ, नया वातावरण सर्जन करके समाज को नया पोषण दिया जाय । इसके साथ-साथ जो शाश्वत सत्य है, त्रिकाल सिद्ध है जिनसे सदा ही पोषण मिलता आया है उनकी रक्षा की जाय, ध्रुवता स्वीकार की जायेगी । जैन आगमों में जो वर्णन आते हैं, उनसे स्पष्ट है कि कुछ मर्यादायें देश काल विशेष के लिए ही बनी थी, वे परिस्थितियाँ बदलने पर उन मर्यादाओं का मूल्य भी बदल गया है, कुछ त्रिकाल सापेक्ष होती हैं, उनका महत्व जीवन के हर चरण पर स्वीकार किया जाता है । जैन-चिंतन बहुत ही गम्भीर है, वह किसी भी वस्तु को एकात्मिक रूप से स्वीकार नहीं करता । वह कहीं व्यवहार (परम्परा) को महत्व देता है तो कहीं निश्चय (भावना) को । जैन धर्म के निश्चय और व्यवहार को बिना समझे कुछ निर्माण कर लेना उसके साथ बड़ा अन्याय होगा ।

हाँ, तो गौतम स्वामी का प्रश्न यह है कि उन्होंने मर्यादा की अपेक्षा भावना को महत्व दिया, और वह इसलिए दिया कि, अंगुली पकड़ने से भी मर्यादा में कहीं दोष क्षति नहीं हो रही थी, किन्तु यदि अंगुली छुड़ाने का प्रयत्न किया जाए तो बच्चे की कोमल श्रद्धा और भावनाओं को बहुत ठेस पहुँचती । वे ज्ञानी थे, इसलिए मर्यादा की अपेक्षा भावनाओं का महत्व अधिक समझा और इसीलिए उसी को प्रमुखता दी ।

बुद्ध का एक कथानक आता है कि एक बच्चा धूल में खेल रहा था । उसने एक मुट्ठी धूल लेकर बुद्ध के पात्र में देना चाहा, इस पर दूसरे लोग हल्ला करने लगे, परन्तु बुद्ध ने अपना पात्र बच्चे के आगे कर दिया, बालक ने पात्र में धूल डाल दी और खुशी के मारे उछलने लगा । लोगों ने उनसे पूछा कि यह क्या किया ? तो इस पर गम्भीर होकर बुद्ध ने बताया कि—बालक में देने का संकल्प उत्पन्न हुआ, यदि वह नहीं लेते तो उसकी देने की वृत्ति जो जागृत हुई थी, वह कुचल जाती, बच्चा निराश और दुखी हो जाता । उसमें देने का संकल्प तो उठा है न ? उसको सुधारा जा सकता है ।

महापुरुष सिर्फ शरीर को ही नहीं देखते, व्यवहार के कलेवर में ही नहीं बंधे रहते हैं, बल्कि उसकी आत्मा का भी अध्ययन करते हैं और गौतम स्वामी ने यही किया ।

मन भी दे दिया

श्रीदेवी ने जब अपने लाड़ले को इस प्रकार गौतम स्वामी की अंगुली

पकड़े आते देखा तो उसका हृदय गद्गद हो उठा । उसकी आँखें भीग गई । हर्ष-विह्वल-सी उठ कर गौतम स्वामी के सामने आई, तीन बार प्रदक्षिणा करके उन्हें भीतर चौके पर ले गई । जो कुछ भी शुद्ध आहार आदि था, बड़ी भक्तिपूर्वक दिया । गौतम स्वामी जब चलने लगे तो वह द्वार तक छोड़ने आई । अतिमुक्तक एक क्षण तो रुका, फिर वह दौड़कर गौतम स्वामी के साथ हो गया । अब उसका मन गौतम स्वामी से दूर हटने को नहीं होता था, जैसे अन्न के साथ मन भी गौतम को दे दिया हो । रास्ते में उसने गौतम स्वामी से पूछा—आप कहाँ रहते हैं ? गौतम स्वामी ने उत्तर दिया—देवानुप्रिय ! मेरे धर्माचार्य धर्मगुरु जिनसे मुझे अर्थ ज्ञान मिला और जो वर्तमान युग के धर्म-नेता हैं और प्रवर्तक हैं, उन भगवान महावीर के पास रहता हूँ । मैं उनका शिष्य हूँ । आज भगवान का समवशरण श्रीपुर उद्यान में लगा है, मैं वहीं पर जा रहा हूँ । इस पर कुमार ने पूछा—क्या मैं भी वहाँ चलकर आपके धर्म गुरु की वन्दना कर सकता हूँ ? गौतम ने कहा—जैसा तुझे प्रिय लगे ? वह भगवान महावीर के पास पहुँचा और उनकी वन्दना करके सभा में बैठ गया । कुमार ने भगवान का सरस और सुन्दर उपदेश सुना, उसे बहुत भाया । भगवान की वाणी उसे बहुत प्रिय लगी । मन हुआ कि मैं भी भगवान का शिष्य बन जाऊँ ? वह उठकर भगवान महावीर के पास आया, और भगवान से कहा—मुझे आपका उपदेश बहुत ही अच्छा लगा । मैं अपने माता-पिता को पूछकर आपके चरणों में हो दीक्षा लेना चाहता हूँ ! भगवान ने कहा—जैसा तुम्हारी आत्मा को प्रिय हो, सुख हो वैसा करो । भगवान महावीर का यह 'इच्छा-योग' जैन धर्म की महत्वपूर्ण वस्तु है । कभी किसी पर दबाव नहीं, हठ नहीं ! आत्मा को जगाना सिर्फ उनका काम था, जागृत होने पर स्वतः प्रेरित होकर वह भगवान के चरणों में आने को आतुर हो उठता ! महावीर का एक ही उत्तर रहा—जहासुहं देवाणुषिया !—जैसा तुम्हारी आत्मा को सुख हो वैसा करो, इसके आगे उनका दूसरा निर्देश होता—मापडिबंधं करेह—यदि करना है तो विलम्ब मत करो । जब तक किसी काम के लिए आत्मा तैयार नहीं होती, तभी तक ही विलम्ब होता है, झंझट रहता है । जब कल्याण मार्ग का निश्चय हाथ आ गया, आत्मा तत्पर हो उठा तो फिर विलम्ब कैसा ? यदि कोई कहे कि अमुक कार्य के लिए मेरी आत्मा तो तैयार है किन्तु सोचूँगा—तो इसका अर्थ

यही हुआ कि वास्तव में अभी तक उसकी आत्मा तैयार हुई ही नहीं है । अतिमुक्तक कुमार की आत्मा में बलवती स्फुरणा जग उठी थी—अब उसके लिए एक-एक क्षण भी बहुत लम्बा और असह्य हो रहा था । वह भगवान के समवशरण से सीधा अपने राजमहलों में आया, माता ने कुमार के मुख पर अतीव प्रसन्नता देखी तो वह भी खिल उठी, किन्तु ज्यों ही कुमार ने कहा—मैं भगवान महावीर के पास दीक्षा लूँगा, तो माता अवाक् रह गई ! खिले हुए शतदल कमल पर जैसे हिम पात हो गया, वह मूर्च्छा खाकर गिर पड़ी । दासियों ने रानी की हवा की, पानी के छींटे दिए, रानी को होश आया तो वह कुमार को बाहों में पकड़ कर गोद में बिठा लिया, बार-बार उसका सिर चूमने लगी—मेरे प्रिय कुमार ! तुम अभी बच्चे हो । तुम्हें क्या मालूम धर्म दीक्षा क्या होती है, उसमें कितने-कितने कष्ट उठाने पड़ते हैं, अभी ऐसी बात मत कहो, जब सयाने हो जाओ, तब देखा जायेगा, अभी तो कुछ जानते भी नहीं हो, तुम्हारे दूधिये दाँत भी नहीं सूके हैं ।

कुमार ने माता की ममता भरी बातें सुनीं, उसने कहा—माँ ! मैं जानने योग्य सब जानता हूँ, जिसको जानता हूँ उसको नहीं जानता और जिसको नहीं जानता उसको जानता हूँ । माता ने इस पहेली का अर्थ पूछा तो कुमार ने विश्लेषण करते हुए बताया—कि मैं जानता हूँ कि जिसने जन्म लिया है, वह अवश्य मरेगा, किन्तु यह नहीं जानता कि वह कब, कहाँ, कैसे मरेगा ? इसलिए मैं जिसको जानता हूँ उसको नहीं जानता, और मैं यह नहीं जानता कि किसने कब कहाँ कैसे कर्म किए हैं, किन्तु यह जरूर जानता हूँ कि जो आज दुःख पा रहा है, अन्धेरी गलियों में ठोकरें खा रहा है, उसने वैसे कर्म जरूर किए हैं ।

तैराने वाला तिर गया

माता ने कुमार की विचित्र ज्ञान भरी बातें सुनीं तो बड़ा आश्चर्य हुआ, माता-पिता के बहुत-बहुत समझाने पर भी कुमार का दृढ़ निश्चय नहीं बदल सका, आखिर संकल्प की विजय हुई, माता-पिता ने अपनी मनोकामना पूर्ति के लिए एक दिन के लिए उसका राज्याभिषेक किया । राजतिलक होने पर जब उससे आदेश-निर्देश के लिए पूछा तो कुमार ने अपनी दीक्षा की तैयारी के लिए आज्ञा ली, और फिर बड़े समारोह के साथ भगवान महावीर के चरणों में उसने प्रव्रज्या ग्रहण की ।

बचपन का वैराग्य संस्कार प्रधान होता है, भले ही उसमें ज्ञान की मात्रा उतनी प्रबल नहीं, किन्तु संस्कार उसके अवश्य ही प्रबल होते हैं, एक दृष्टि से उसे संस्कार जन्य वैराग्य कह सकते हैं । अतिमुक्त मुनि जी उन्हीं संस्कारी वैरागियों में था, ज्ञानार्जन तो अभी उसने प्रारम्भ ही किया था । एक बार वर्षा के समय अतिमुक्तक मुनि स्थविर मुनियों के साथ शौच के लिए गया, और जल्दी ही निपट कर लौट आया, पास ही में पानी का प्रवाह चल रहा था, बाल स्वभाव के कारण मन में चंचलता आ गई और पानी को एक मिट्टी की पाल से बाँधकर पानी में अपना पात्र नाव की तरह तैराने ले गया । जब स्थविर मुनि लौट कर आये तो उसने ताली बजाकर हँसते हुए उनसे नाव को देखने के लिए आग्रह किया, स्थविर मुनियों ने यह देखा तो बड़े क्षुब्ध हुए, बोले—अज्ञान ! तू यह क्या कर रहा है ? असंख्य जीवों की हत्या कर रहा है ? वह डर कर झोली में पात्र रख कर चलने लगा, पीछे से स्थविर मुनि उसे कुछ कड़े व व्यंग्य भरे वचन कहते हुए आ रहे हैं, अतिमुक्तक मुनि स्थविरों के वचन सुनकर व्याकुल नहीं हुआ, सोचा वास्तव में मेरी गलती हुई है, वह अपनी भूलों पर पश्चात्ताप भी कर रहा था । स्थविर भगवान महावीर के निकट में आये । भगवान ने तो अपने ज्ञान-बल से सब कुछ जान ही लिया था, भगवान बोले—आप लोग तनिक में गड़बड़ा गये ? आप को मालूम है । इस बालक की आत्मा कितनी जागृत है, यह इसी जन्म में मोक्ष जाने वाला है । उसने भूल जरूर की है पर उसकी निन्दा या उपहास नहीं करना चाहिए, शिक्षा में किसी की अवहेलना या आत्मा को कुचलना ठीक नहीं है, उसे जागृत करना चाहिए, प्रेम से मार्ग दिखाना चाहिए ।

स्थविर मुनियों ने जब यह बात सुनी तो उनका हृदय गद्-गद् हो गया, अतिमुक्तक कुमार को कोसने और उस पर रोष प्रकट करने के लिए स्थविर मुनियों ने पश्चात्ताप और आलोचना की ।

अतिमुक्तक मुनि अब महावीर के निकट में ज्ञान-यज्ञ में जुट गया, मुनि जीवन की साधना की यह त्रिवेणी है—ज्ञान, सेवा और तपस्या । जब तक साधक इस त्रिवेणी में स्नान नहीं कर लेता, मुक्त नहीं हो पाता । अतिमुक्तक ने ज्ञानाराधना में सामायिक आदि ग्यारह अंगों का अध्ययन किया, फिर स्थविरों की सेवा में लगा तो खूब ही लगा, तन मन अर्पण करके सेवा कार्य में जुट पड़ा, फिर अन्त में तपस्या की अग्नि

में स्वयं को तपाया तो ऐसा तपाया कि आत्मा कंचन हो गई । गुणरत्न-संवत्सर तप की कठोर आराधना की और अन्त में राजगृह के विपुलाचल पर्वत पर एक महीने का अनशन करके केवल ज्ञान प्राप्त कर मुक्ति की ओर प्रस्थान किया । यह किसे पता था कि एक दिन पानी में पात्र की नाव तैराने का नाटक करने वाला संसार-सागर से अपनी नाव को तैरा कर किनारे लगा लेगा ।

ॐ

अतिमुक्त कुमार

मानव कौन ? शरीर या आत्मा ?

मनुष्य क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में जब हम मानव का विश्लेषण करते हैं, तो उसके दो रूप हमारे सामने आते हैं । हम मानव के शरीर को मानव कहें या उस आकृति में निवास करने वाली ज्योतिर्मान आत्मा को मनुष्य कहें ? वास्तव में बात यह है कि जब आत्मा और शरीर का सम्बन्ध होता है तो दोनों ही एक-दूसरे के आधार पर संसार की यात्रा करने के लिए आगे बढ़ते हैं, उस समय उनका जो एक रूप हमारे सामने आता है, वही मनुष्य है ।

मैं काला हूँ, यह गोरा है, यह लम्बा है, वह बौना है, यह मनुष्य के किस रूप का विश्लेषण है ? यह मनुष्य के बाह्य रूप का, शरीर का विश्लेषण है । लेकिन मनुष्य की आत्मा ? वह तो न काली है और न गोरी है । यह स्त्री है और यह पुरुष है ? यह मनुष्य के एक अंग, एक भाग का विश्लेषण है, परन्तु वह आत्मा जो उसमें खेल खेल रही है, वह आत्मा जो उसके अन्दर बिजली की भाँति प्रकाश बिखेर रही है, वह आत्मा स्त्री नहीं है, पुरुष भी नहीं है । बचपन, बुढ़ापा और जवानी शरीर का विश्लेषण है । विचार दृष्टि जब शरीर पर जाकर ठहरती है, तभी ये विविध रूप दिखाई देते हैं । आत्मा तो इन सबसे ऊपर है । भारतवर्ष में दर्शनयुग से पूर्व मनुष्य की विश्लेषण-दृष्टि शरीर तक ही सीमित थी, वे शरीर को ही मनुष्य मान कर चल रहे थे । जब तीर्थंकर के ज्ञान का प्रकाश जगमगाया तो उन्होंने कहा—“हाँ, एक दृष्टि से शरीर भी मनुष्य है, पर वास्तविक मनुष्य तो शरीर की ओट में छिपा हुआ है, जो शरीर तो नहीं अपितु शरीर वाला है । जो स्वयं हाथ-पैर नहीं, आँख-कान वाला है और हृदय वाला है । यह जो कुछ भी वैभव है, उस वैभव का सृष्टा है । किसी और ने उस वैभव का निर्माण नहीं किया । आत्मा स्वयं ही उसका निर्माता है, वही शरीर में निवास कर रहा है और आनन्द ले रहा है ।” अन्तकृत दशांग सूत्र में मनुष्य के जिस रूप का विश्लेषण चल रहा है, वह है आत्म-रूप । वह शरीर से भिन्न है, इन्द्रियों और मन से परे है और इस वैभव से भी परे है । परन्तु इस जीवन में वह चमक रहा है । इसी के आधार

पर यह शरीर टिका हुआ है । आत्मा के बिना शरीर का कोई मूल्य नहीं । जब तक आत्मा है तब तक तन में प्राण है, वाणी है, चमक है, ज्योति है और जरा उसने किनारा किया नहीं कि वे सारे हाव-भाव, समस्त दृश्य गायब हो जाते हैं, वाणी मूक हो जाती है । हाँ तो यहाँ गज सुकुमार अर्जुनमाली, अतिमुक्त कुमार आदि महापुरुषों के उसी आत्म-स्वरूप का विवेचन किया जा रहा है ।

न हि तेजो वयः समीक्षते ।

आगम के पृष्ठों पर अतिमुक्त कुमार को हम एक बालक के रूप में देखते हैं, परन्तु यहाँ उसके उस शरीर को महत्त्व नहीं दिया गया । यहाँ तो उसके जीवन की विशाल और विराट् आत्मा की महत्ता है और इस महानता के सम्मुख शरीर का छोटापन, बड़ापन कोई अर्थ नहीं रखता । भगवान महावीर ने अतिमुक्त के शरीर को नहीं जगाया, उन्होंने जगाया उस सुषुप्त आत्मा को जो एक ही आवाज में जाग उठी । आप शायद सोचते होंगे कि अतिमुक्त कुमार की अभी उम्र ही क्या थी ? खेलने-कूदने, चौकड़ियाँ भरने, खाने-पीने और किलकारियाँ मारने की उम्र में ही चल पड़ा है यह वैराग्य के हिमालय की चोटियों को लाँघने के लिए । यह वैराग्य के महासमुद्र को तैरने के लिए आगे बढ़ रहा है । जिसका नन्हा सा सुकोमल शरीर एक छोटी-सी थपेड़ में तिलमिला सकता है, वह इस विशाल जगत में जगमगाता हुआ चल रहा है । बात क्या है ? इस बाल-साधक में आत्म-बल था, दिव्य-भव्य-ज्योति थी, अलौकिक प्रकाश था, उसी के सहारे वह अपनी मंजिल की ओर कदम बढ़ा रहा था ।

अग्नि की छोटी-सी चिनगारी लाखों मन घास-फूस के ढेर को जला देती है । क्या चिनगारी उस विशाल तृण-राशि को देखकर काँपती है ? डरती है ? वह यह नहीं सोचती कि लाखों मन घास का ढेर कहाँ और मेरी नन्हीं-सी काया कहाँ ? वह तो यह कहेगी कि मैं अग्नि हूँ, यह लाखों मन घास तो बहुत थोड़ी है मेरे सामने मुकाबला करने के लिए तो और लाओ, मैं अकेली ही उस सबको नष्ट करने का सामर्थ्य रखती हूँ । जिसके पास तेज है, उसे छोटा क्यों समझते हो ? हाँ, चिनगारी शुरू होनी चाहिए, कहीं बुझा हुआ कोयला हो तो उससे काम नहीं बनेगा ।

एक ओर मदमस्त गजराज है साठ वर्ष का या सौ वर्ष का । वह मनो अस्थि-मांस का बोझ लिए हुए है । अपनी मस्त-गति से झूमता हुआ चला

जा रहा है और उधर से एक छोटा-सा शेर का बच्चा दहाड़ता हुआ आ पहुँचता है । बस, हाथी के होश उड़ने लगते हैं, उसे देखकर । क्या मुकाबला है, उन दोनों का ? सिंह छोटा अवश्य है, पर सिंह का छोटापन मत नापिए, उसका तेज नापिए । जो तेज सिंह-शिशु में प्रदीप्त हो रहा है, वह उस सौ वर्ष के हाथी में नहीं मिलेगा । उस छोटे-से सिंह-शावक के सामने मदमस्त बृहत्काय गजराज को भी भागना ही पड़ता है ।

अन्धकार कितना बड़ा है, विशाल है ? लेकिन उस अन्धकार में एक नन्हीं-सी दीपक की लौ टिमटिमाती हुई अपना सिर ऊपर उठाती है, चमकती है, जो अन्धकार को छिन्न-विच्छिन्न कर देती है । कहाँ अन्धकार की सघनता और कहाँ दीपक की जरा-सी लौ पर उस लौ में तेज है । इसलिए उसके सामने आकर अन्धकार के पैर उखड़ जाते हैं । एक ओर विशाल गिरिराज है और उनकी ऊँची-ऊँची चोटियाँ आसमान को छूने जा रही हैं; दूसरी ओर आसमान में क्षण भर के लिए चमकने वाली विद्युत है, किन्तु वही बिजली जब उस पर्वत पर गिरती है तो उन गगनचुम्बी चोटियों के टुकड़े-टुकड़े कर देती है । हाँ तो तेज का मूल्य है संसार में । जिसमें तेज है, उसी में बल है, शक्ति है । जिसके अन्दर एक महाप्रकाश झूम रहा है, जिसके जीवन में उच्च संस्कार और विचार बिजलियों की तरह चमकते रहते हैं, वह जीवन जब आगे आ जाता है और करवट बदलता है, तो उनके अन्दर की सोई हुई आत्मा बिखर कर बाहर आ जाती है । साधारण प्रतीत होने वाला व्यक्ति भी इतिहास को नया मोड़ देने में समर्थ होता है ।

भारत की एक विशाल राजसभा में बड़े-बड़े जिग्गज पण्डितों का शास्त्रार्थ हो रहा था । वेद, आगम, त्रिपिटक एवं दुनिया भर के शास्त्रों को उछाला जा रहा था, बाल की खाल निकाली जा रही थी, तर्कों की जाल में उलझ रहे थे, विद्वान् लोग । तभी एक बालक आया और अपने पिता की गोद में जा बैठा । जब उसने देखा कि ये पण्डित लोग वाद-विवाद में उलझते जा रहे हैं तो अनायास ही उसके मुँह से एक आवाज निकली और सभा में सन्नाटा छा गया । सभी उस बालक की ओर देखने लगे । राजा और एकत्रित विद्वानों ने पूछा कि तुम क्या जानते हो ? तो बालक ने कहा —

“बालोऽहं जगदानन्द ! न मे बाला सरस्वती ।

अप्राप्ते तु पञ्चमे वर्षे वर्णयामि जगत् त्रयम् ॥ ”

“मैं बालक हूँ, मेरा शरीर बालक है, पर मेरी आत्मा बालक नहीं है। अभी मेरा पाँचवाँ वर्ष भी पूरा नहीं हुआ, किन्तु यदि इन समस्त विचारों के मूल-तत्त्व के सम्बन्ध में विवाद करना चाहें, तो कर सकते हैं।” यह गर्वोक्ति नहीं है। यह इतिहास का अलंकार भी नहीं है जो इतिहास में जोड़ दिया गया हो। यह तो उन तेजस्वी आत्माओं के दर्शन हैं, चमत्कार हैं, जो आत्माएँ निखर कर ऊपर आ जाती हैं। कौन था यह बालक? ये थे हमारे दर्शन-उपवन के माली आचार्य हेमचन्द्र।

साथियों के बीच : अतिमुक्त

राजकुमार अतिमुक्त भी एक तेजस्वी बालक था। किन्तु उसका जीवन कितना विराट्, कितना सरल और रम्य था। राजकुमार होकर भी वह साधारण बच्चों के बीच खेल रहा है, धमा-चौकड़ी चल रही है, बच्चों की किलकारियों से आकाश गूँज रहा है। सारे संसार का वैभव और खेल का आनन्द मानो उनके खेल के मैदान में सिमट कर आ गया हो। यह हमारे भारतवर्ष की पुरानी संस्कृति है, जिसमें कोई भेद-भाव नहीं। बच्चे सब एक हैं। बालक्रीड़ा के मैदान में राजपुत्र, श्रेष्ठिपुत्र और सेवकपुत्र सब समान हैं। बच्चों की दुनिया में छोटे-बड़े की भूमिका, भेदभाव का दानव नजर नहीं आता। उस समय मनुष्य को मनुष्य के रूप में रहने की कला सिखाई जाती थी, इसलिए उनको मनोवृत्ति भी सरल थी।

भारतवर्ष तो आज भी वही है, हम अपने को उसी प्राचीन संस्कृति के पुजारी कहते हैं, परन्तु उस युग की और आज की स्थिति में कितना अन्तर है? आज तो बच्चे पर भी प्रतिबन्ध लगाया जाता है कि अमुक के साथ नहीं खेलना, क्योंकि उससे हमारा मनमुटाव हो गया है। निम्न श्रेणी या साधारण वर्ग के बालकों में घुलने-मिलने नहीं दिया जाता बच्चे को। उन्हें शिक्षा ही इसी प्रकार की मिलती है कि तुम उच्च वर्ग के हो, अच्छे खानदान के हो। अतः निम्न-कोटि के बालकों के साथ मत खेलो। आज हमारी बहिनें क्या और भाई क्या सभी इन बालकों के पवित्र मन में भेद भाव-मूलक-वृत्ति का जहर भर रहे हैं, धन और सत्ता का अहंकार भर रहे हैं, घृणा और द्वेष के संस्कार भर रहे हैं, जातीयता के अहंकार का इंजेक्शन दे रहे हैं और जब बच्चे इन इंजेक्शनों और संस्कारों तथा विचारों को पाकर

बड़े होते हैं तो इनकी अमृतमयी बुद्धि नहीं रहती । ये बच्चे विषपूरित-घटों की भाँति संसार में घूमते रहते हैं । अब संसार में शान्ति आये तो कैसे और कहाँ से ? आपने तो जहरीले इंजेक्शन दे देकर इन्हें मानव से दानव बना दिया है और उनके सहज अमृत भाव को पहले ही समाप्त कर दिया है, उनका सारा जीवन दूषित और कलुषित बना दिया है । जिसके जीवन में आपने घृणा की दुर्गन्ध भरी है, वहाँ प्रेम का समुद्र कैसे मिलेगा ? आप चाहते हैं कि भ्रातृत्व-भाव पनपे, पड़ौसी आपस में प्रेम से रहें, सुख और शांति से रहें, पर यह सब कैसे हो ? इन्सान के मस्तिष्क में स्वार्थ और अहंकार के बीज बोए गए हैं । इस तरह से वह मस्तिष्क मानव का मस्तिष्क नहीं रह गया, उसमें तो घृणा और द्वेष के साँप, बिच्छू कुलबुला रहे हैं, वहाँ इन्सानियत का निवास नहीं है, फिर आनन्द सुलभ कैसे हो ?

सद्गुरु की भेंट

मैं आपसे कह रहा था कि हमारे भारतवर्ष की संस्कृति कितनी ऊँची थी और देशवासियों के विचार कितने पवित्र थे ? सोने के सिंहासन थे, विशाल ऐश्वर्य था, अधिकाधिक आनन्द भी उपलब्ध हो रहा था उन्हें, पर वे इन भोगों को अपने सिर पर रखकर नहीं चल रहे थे अपितु वे उन भोगों और सिंहासनों के स्वामी थे, उनके दास और गुलाम नहीं थे, ये भोग उनके पैरों तले दबे हुए थे । यही कारण है कि इन महापुरुषों की आत्माएँ इतनी जागृत थीं । अतिमुक्त कुमार भी इन्हीं जागृत आत्माओं में से एक थे ।

वह भी एक युग था, जब १४ हजार साधुओं के अधिष्ठाता, जैन परम्परा के उत्तरदायित्व को अपने कंधों पर वहन करने वाले गौतम गोचरी लेने के लिए, भिक्षा लेने के लिए जा रहे हैं । स्वयं भगवान ने जिसके लिए कहा था कि यह जिन तो नहीं पर जिन के बराबर है, तीर्थकर तो नहीं है पर तीर्थकर के बराबर है । इतनी ऊँची भूमिका पर जिसे पहुँचा दिया है, फिर भी कितना नम्र है ? अपने ही पुरुषार्थ पर अपना जीवन चला रहा है । वह चाहता तो उसके एक ही इशारे पर हजारों भिक्षा लाने दौड़ सकते थे, पर वह स्वयं ही हाथ में झोली लिए भिक्षा हेतु परिभ्रमण कर रहा है । बेले का पारणा है, दो दिन का कठोर उपवास है, वह बेली भी एक बार का ही नहीं, अपितु जिस दिन से उन्होंने दीक्षा ली है, बेले-बेले पारणा करते चले आ रहे हैं और

उस बेले के पारणे पर स्वयं भिक्षा-पात्र लेकर घूम रहे हैं, कभी इधर और कभी उधर ।

अतिमुक्त कुमार अपने साथियों के बीच खेल-कूद में मस्त हैं । सहसा गौतम जब उस ओर से निकलते हैं तो अतिमुक्त की निगाहें गौतम पर जा टिकती हैं । वह उस भव्य और मुक्त आत्मा को, उनके तेजस्वी मुख-मण्डल को देख कर आश्चर्य से सोचता ही रह जाता है कि यह क्या कर रहे हैं ? कभी इस घर में कभी उस घर में जा रहे हैं ? अतिमुक्त अपने खेल को छोड़ कर सड़क के इधर किनारे पर आ जाते हैं और गौतम से पूछते हैं कि आप कौन हैं ? क्या माँग रहे हैं ? क्या ले रहे हैं इधर उधर ? और गौतम सहज भाव से उत्तर देते हैं—“मैं साधु हूँ और इस गाँव में भिक्षा लेने आया हूँ ।” यह सुनते ही अतिमुक्त कहते हैं—“तो आप चलिए मेरे घर, मेरी माँ के पास । मैं आपको माता से आहार दिलवाऊँगा ।” बात छोटी-सी है, पर यह उस समय के जन-जीवन की एक झाँकी है । एक बच्चे का मन कितने उच्च संस्कारों की भूमिका पर है ? बच्चों के लिए खेल बहुत बड़ा काम है । आपका हजारों का लेन-देन और बच्चे का खेल बराबर है, अपने-अपने दृष्टिकोण से । जितना महत्त्व आपके सामने अपने काम का है, बच्चे के लिए खेल का महत्त्व उससे भी ज्यादा है । बच्चे बिना अपनी इच्छा के किसी भी मूल्य पर खेल छोड़ना नहीं चाहते । अतिमुक्त कुमार खेल में डूबा हुआ अवश्य है फिर भी उसका मन कितना जागृत है ? आपके पास दूकान पर या जब आप किसी कार्य में उलझे हों, तब कोई सार्वजनिक चन्दा लेने आए तो आपका माथा ठनकेगा । सम्भव है आप उसकी ओर देखें भी नहीं, बात की तो कौन कहे । उस समय आप दूकान के स्वामी नहीं हैं, उसके गुलाम हैं, काम ने आपको दबा लिया है । आपके ऑफिस में भी कोई जरूरत मन्द आपसे मिलने पहुँचता है, लेकिन आपको अवकाश नहीं बात करने का । काम आप से गुलाम की तरह काम ले रहा है । तो आज की यह स्थिति है, उस समय यह स्थिति नहीं थी । बच्चे तक भी जागृत थे उस समय ।

अतिमुक्त सोचता है कि इन्हें भिक्षा की आवश्यकता है, पर ये घर-घर क्यों माँगें ? मेरी माँ उदार है, वह न जाने कितनों को भोजन देती है, स्नेह और आदर से सबकी सेवा करती है, मेरी माता के हाथ से दान का प्रवाह निरन्तर गंगा की भाँति बहता है, कोई निराश नहीं

लौटता । क्या मेरी माँ इनकी इच्छा पूरी नहीं करेगी, अवश्य करेगी । उसे यह विश्वास इसलिए था कि वह प्रतिदिन अपने घर में उदारता के दर्शन करता था । जब परिवार उच्च संस्कारी है तो बच्चा सुसंस्कृत अवश्य होगा । अगर घर में माता-पिता के विचार इतने ऊँचे न हों, वे किसी को दान न देते हों, किसी की मदद करने को आतुर न रहते हों, तो बच्चा कभी यह हिम्मत नहीं कर सकता कि चलो, मैं तुम्हारा काम करवा दूँगा, अपने पिता से या माता से ।

अतिमुक्त सहज भाव से गौतम की अंगुली पकड़ कर उन्हें अपने घर ले जाता है तो माता हर्ष से गद्-गद हो उठती है और कहती है—“पुत्र ! तुम बड़े भाग्यशाली हो, जो तुम तरण-तारण का जहाज हमारे घर लेकर आये हो ।” आज उसकी माता प्रसन्न है कि एक महापुरुष ने इस घर को पावन किया है । माता पुत्र से कहती है कि आज तूने बड़ा महत्त्वपूर्ण काम किया है, इसके मुकाबले में संसार का बड़े से बड़ा काम भी कोई महत्त्व नहीं रखता । दूसरे कार्यों से मिलने वाला आनन्द क्षणिक है पर यह तो सर्वश्रेष्ठ और चिरस्थायी आनन्द का काम है । इस प्रकार के संस्कारों का जीवन हम व्यतीत करें तो हमारे ये छोटे-छोटे बच्चे भी जीवन की इन्हीं महत्त्वपूर्ण ऊँचाइयों को प्राप्त कर सकते हैं ।

साधना के पथ पर

गौतम भिक्षा लेकर मुड़े तो अतिमुक्त ने पूछा—“भगवन् ! अब कहाँ जा रहे हैं आप ?” गौतम ने कहा—“मैं अपने गुरु श्रमण भगवान् महावीर की सेवा में जा रहा हूँ ।” बालक ने आश्चर्य के स्वर में कहा—“ओह ? आपके भी गुरु हैं ? कितने महान होंगे आपके गुरु ? क्या मैं भी आपके साथ उस दिव्य ज्योति के दर्शन करने चलूँ ?” गौतम ने कहा—‘जहासुहं’ जैसा सुख हो । और वह बालक अपने मन में नई उमंग, नई आशा, भव्य अभिलाषा लिए हुए गौतम के साथ भगवान की सेवा में जा पहुँचा । भगवान का उपदेश सुन कर उसने उस दिव्य ज्योति के चरणों में अपने आपको सदा के लिए अर्पित कर दिया । माता-पिता एवं परिवार जनों ने लाख-लाख प्रयत्न किए उसे समझाने के परन्तु वह तो पहले ही भली-भाँति समझ चुका था, वे उसे क्या समझाते ? उस छोटे से बालक के मुख से आत्म-ज्ञान की रहस्य भरी बातें सुन कर सभी

विस्मित रह गये । वह बाल क्रीड़ा में मस्त व्यस्त जीवन सैकड़ों कवियों की वाणी पर चढ़ चुका है । आज भी लोग गाते हैं—

“अयवन्ता मुनिवर नाव तिराई बहता नीर में ।”

उसकी और साधना साधारण जन-मन को इतना आकर्षित नहीं कर सकी, जितना नाव तिराने की घटना ने जन-मन को अपनी ओर खींचा है । वह पात्र की नाव नहीं, जीवन की नौका पार कर रहे हैं । संसार के रंगमञ्च पर जीवन का खेल खेल रहे हैं और साधना भी उनके लिए एक खेल है । खेल ही खेल में उनकी आत्मा को एक दिव्य प्रकाश मिला जिससे उनकी यात्रा सरल और सुखद रही ।

उत्तरदायित्व किस पर

महापुरुषों की ये जीवन-गाथायें सिर्फ भारतवर्ष के इतिहास को समृद्ध बनाने के लिए ही नहीं हैं, इनसे हमें प्रेरणा का प्रकाश मिलता है । आज भी सैकड़ों तरुण और बालक हमारे बीच हैं, जिनके शरीर में नया रक्त और जोश झलक रहा है, जो जीवन के मोर्चे पर आने वाले सिपाही के रूप में हमारी और आपकी आँखों के सामने हैं, तो उन्हें भी आप छोटा मत समझिए, उनकी अवज्ञा मत कीजिए । आप उन्हें नासमझ और तुच्छ मत समझिए । आज आप कहते हैं कि इन युवकों में धर्म की लगन नहीं है तो इसका उत्तरदायित्व उन पर नहीं है बल्कि उन लोगों पर है जो धर्म के ठेकेदार बन बैठे हैं । ठेकेदार तो बन गये हैं, पर धर्म के वास्तविक रहस्य से शून्य हैं, जो केवल बाह्य क्रिया काण्डों में ही उलझे रहते हैं, उनके अन्तर्जीवन में जीवन का तेज नहीं है, धर्म की जलती हुई मशाल बुझ रही है पर उस धर्म की और अपने जीवन की मशाल में वे तेल नहीं डाल रहे हैं, नये प्रकाश के अभाव में वह मशाल जल कर ढूँठ मात्र रह गई है । ये ठेकेदार उसी को धर्म का प्रकाश और आस्तिकपन कह कर अपने आपको भी धोखे में डाल रहे हैं और इन बालकों को भी भला-बुरा कह रहे हैं । नौजवान सोचते हैं कि ये धर्मात्मा गिने जाने वाले लोग क्या कर रहे हैं ? ये अपने दैनिक व्यवहार में—जीवन में कहाँ तक धर्म का पालन करते हैं ? यह नया रक्त हर चीज को आलोचना की कसौटी पर देखना चाहता है । वह धर्म को ढकोसले के रूप में, बुझी हुई मशाल के ढूँठ के रूप में देखना नहीं चाहता और इसीलिए आलोचना करता है । जब आलोचना करता है

तो आप उसे नास्तिक कह कर कोसने लगते हैं । मैं आपसे पूछूँ कि इसका उत्तरदायित्व किस पर है ? आप धर्म के, समाज के और विचारों के क्षेत्र में इन बच्चों को बाँध कर रखना चाहते हैं और अगर ये इन्कार कर देते हैं तो इसका उत्तरदायित्व इन पर नहीं डाला जा सकता । पन्थों के नाम पर और सूखे क्रियाकाण्डों के नाम पर ये बच्चे बन्धन में नहीं आना चाहते । हाँ यदि आप धर्म के मूल अर्थों में, पन्थों के सही रूपों में उन्हें अपने नजदीक लाना चाहें तो वे आ सकते हैं । पर इन हथकड़ियों से उसे बाँधना सम्भव नहीं । यदि आपके क्रियाकाण्ड की माला धर्म की सुगन्ध से महक रही है, वह उच्च विचारों और दृढ़ संकल्पों की सुगन्ध से, जैन धर्म की महान् परम्परा की सुगन्ध ओत-प्रोत है, उस माला से भगवान के उपदिष्ट धर्म के सही स्वरूप की सुगन्ध निकल रही है तो वह सुगन्ध उनको अपनी ओर अनायास ही खींच लेगी । फिर आपके लिए उन्हें बाँधने का प्रयास करने की आवश्यकता नहीं रहेगी और न ही फिर उनकी आलोचनाओं से घबरा कर उन्हें नास्तिक कहने का अवसर मिलेगा ।

नौजवान आगे बढ़ें

मैं तरुणों से भी कहूँगा कि सुनहरा भविष्य इनका इन्तजार कर रहा है । ये देश के होने वाले आधार-स्तम्भ हैं । देश, धर्म और समाज का भविष्य उनके हाथों में है । यह गुरुतर बोझ उनके कंधों पर आने वाला है । आने वाला युग इस प्रतीक्षा में है कि कोई माई का लाल आकर एक ही धारा में निरन्तर बहती हुई शिथिल और सुस्त इस परम्परा को, इतिहास को, इसके प्रवाह को एक नया मोड़ दे, नई जिन्दगी और नई चेतना दे और इस प्रकार एक नये भारत का निर्माण करे, उस परम्परा की बुझी हुई मशाल में नया तेल डाले, नया जीवन दे ताकि देश का खोया हुआ वैभव पुनः प्राप्त हो सके, यह देश फिर से संसार का धर्मगुरु बन सके और आने वाली मानवता को त्रस्त होने से बचा ले । आज भारतवर्ष के धर्म उनका इन्तजार कर रहे हैं, जिनमें शिथिलता आ गई है और चमक लुप्तप्राय हो गई है । वही धर्म का मर्म आज उनका आह्वान कर रहा है । विचारों का जो प्रकाश धुंधला पड़ गया है उसको नये मस्तिष्क चाहिए, उसकी खोज के लिए नये दिमाग चाहिए । धर्म कहता है कि मुझे विचारों की और तर्क की कसौटी पर कसो, परखो, उसका मूल्य आँको और फिर आवाज लगाओ कि हमारा

सोना खरा है । दूर खड़े-खड़े आलोचना करते रहने से ही काम नहीं चलेगा कि इसमें क्या रखा है ? धर्म-कर्म और क्रियाकाण्डों में क्या है ? जब तक ये तरुण दूर से आलोचना करने का मार्ग छोड़कर समीप नहीं आयेंगे और तर्क की कसौटी पर हर चीज को नहीं परखेंगे, तब तक काम नहीं चलने का । विचारों के क्षेत्र में, धर्म के क्षेत्र में जब तक नहीं आयेंगे, तब तक आलोचना का क्या अर्थ है ? ये धर्म और सिद्धान्तों के ज्ञान के खुले हुए दरवाजे उनका इन्तजार कर रहे हैं । जब तक अन्दर आकर आप नहीं देखेंगे, धर्म के उस विराट् स्वरूप को, उसके रहस्य को और गौरव को आप नहीं जान सकेंगे । गंगा बह रही है और आप दूर किनारे पर खड़े बातें कर रहे हैं कि पानी खारा है या मीठा, मैला है या धुंधला ? न मालूम कैसा पानी है, अतः यहाँ से चलो, कौन नहाए इसमें ? इसी तरह युवक भी आज दूर से ही बातें बनाते रहते हैं पर धर्म की गंगा पुकार कर कहती है कि मेरा पानी मीठा है, खारा है या ठण्डा है, कैसा है ? यह देखने के लिए जरा नजदीक आओ । दूर खड़े क्यों फुसफुसा रहे हो ? एक डुबकी लगाओ ताकि पता चले कि पानी कैसा है ? तभी जीवन का सच्चा आनन्द मिलेगा । अहिंसा कहती है कि मुझे परखो, मैं असली सिक्का हूँ या नकली सिक्का । जैन धर्म का साहित्य, दर्शन, कर्मवाद और स्याद्वाद जैनों को ही नहीं अपितु संसार के नौजवानों को चुनौती दे रहा है कि तुम दूर खड़े दिमाग और बुद्धि को हवा में उड़ाये क्यों ले जा रहे हो ? जरा पास आओ और परखो कि हम खरे सिक्के हैं या नकली। हजारों वर्षों से संसार पर प्रभुत्व जमाने वाले सिक्के कहीं आज खोटे तो नहीं बन गये ? यह खोटापन इन सिक्कों में है या तुम्हारे दिमागों में आ गया है ? ये नौजवान अपने पिता से तिजोरी और दूकानों की चाबियाँ अपने हाथ में लेने का विचार करते होंगे पर कभी बहुमूल्य धर्म रथ को चलाने का उत्तरदायित्व लेने के भाव मन में पैदा हुए या नहीं ?

भारतवर्ष के हमारे पूर्वजों ने अपनी इसी तरुणावस्था में समुद्र के वक्षस्थल पर पोतों को दौड़ाया है, वे भारतवर्ष के व्यापार को नहीं बढ़ा रहे थे बल्कि बर्मा, श्याम, जावा, सुमात्रा, मलाया, इंडोचायना आदि देशों में अपने धर्म, अहिंसा और सत्य का सन्देश और उसकी विजय पताका भी फहरा रहे थे । हजारों युवक आस-पास के देशों में ही नहीं, दूर-दूर भी गये । सम्भव है, हाथ में तलवार लेकर भी गये हों । पर तलवार

ही हाथ में नहीं रही, उसके पीछे भारतीय संस्कृति का सन्देश भी चमकता रहा । वह अन्याय, अत्याचार के लिए नहीं रही, दुष्टों के दलन करती रही और इसलिए वे जहाँ भी गये, वहाँ उन्होंने तलवार की विजय ही प्राप्त नहीं की, पर हृदयों को भी जीता, धर्म और संस्कृति की भी विजय प्राप्त की । जनता के दिलों को अपनी ओर मोड़ा और अपनी उच्च संस्कृति की ओर खींचा ।

इन्हीं तरुणों में से एक दिन जम्बू के रूप में भी एक तरुण आया था हमारे सामने । इस धनकुबेर ने असीम वैभव-राशि को ठोकर मार दी थी और भिक्षु बन कर राजगृही के मैदानों में नंगे पैरों घूमता रहा । यह भारत का ही एक तरुण था, जो मेटार्य मुनि के रूप में हमारे सामने आया । भगवान महावीर का आगमन हुआ और हवा ही बदल गई, वह सोई हुई आत्मा जाग उठी, उसने बन्धनों से विद्रोह कर दिया । वह चल पड़ा और जिधर से भी निकला उधर ही हीरे मोती और सुवर्ण चाँदी की वर्षा करता चला गया, हजारों लाखों आदमियों में अपना खजाना लुटाता चला गया । उन तरुणों ने जब भगवान का सन्देश सुना तो स्वर्ण-महलों को पत्थर और ढेला समझकर ठुकरा दिया । एक साधारण भिक्षु के रूप में काठ का भिक्षापात्र हाथ में लेकर उन्होंने घर-घर जाकर आवाज लगाई कि माता भोजन दे ? यह है हमारे तरुणों का आदर्श । तरुणियाँ भी पीछे नहीं थीं । चन्दना, काली, महाकाली, कृष्णा, महाकृष्णा के रूप में वे आगे बढ़ीं, फूलों-सी कोमल सेज को ठुकराया, कठोर यातनाओं को स्वेच्छा से आमंत्रित किया, भूख प्यास ने सताया तो उसे शूर वीर बन कर सहन किया और जब मौत आ गई तो स्वेच्छापूर्वक, शान्त-भाव और प्रसन्न वदन से उसका भी स्वागत किया । उन सूने पहाड़ों और बीहड़ जंगलों में अपने नश्वर शरीर को भी त्याग दिया, पर वे रुके नहीं, मौत से डर कर अपने मिशन को भूले नहीं । उन्होंने सत्य और अहिंसा के अमर सन्देश को भारत के कौने-कौने में पहुँचाया । इन तरुणों ने भारत के भाग्य का निर्माण किया है । वर्तमान काल में भी आजादी को प्राप्त करने में इन तरुणों का बहुत बड़ा हाथ रहा है । आज भारत का भविष्य आशाभरी दृष्टि से इनकी ओर निहार रहा है । आज महान् शास्त्रकारों की वाणी, हेमचन्द्राचार्य, सिद्धसेन आदि आचार्यों के ग्रन्थ पुनरुद्धार के लिए इनकी ओर देख रहे हैं । एक-एक आचार्य आपकी सारी जिन्दगी को अपने ग्रन्थों के लिए उसकी खोज के लिए माँग

रहा है । संसार के महान् विचारकों और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में उनका उच्च स्थान है । इतने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ, उच्च विचारों और संकल्पों का संकलन, ज्ञान का सागर आपके सामने है, आज संसार के सामने इन जैन ग्रन्थों का उल्लेख नहीं हो रहा है, तो इसका उत्तरदायित्व किस पर है ? महावीर पर है कि आप पर है ? करोड़ों और अरबों का वैभव, असीम वैभव पिता ने विरासत में अपने पुत्रों को अर्पण किया है और ये पुत्र हैं कि उस अपार सम्पत्ति का मूल्य नहीं समझते । इसका उत्तरदायित्व पिता पर डालोगे कि आप अपने ऊपर लगे ?

आज भी एक विशाल खजाना, ज्ञान की अपूर्व सम्पत्ति, विचारों का एक अविरल-स्रोत हमारे पास है । सम्भव है धार्मिक आचार-विचार कालक्रम से शिथिल हो गया हो फिर भी जो कुछ बचा है उसमें चमक शेष है । आज भी संसार को देने के लिए बहुत कुछ है । अहिंसा और सत्य का सन्देश आज संसार में शान्ति स्थापित कर सकता है, अनेकान्तवाद संसार के झगड़ों को निपटाने के लिए तैयार है, जीवन के विभिन्न संघर्षों और भयंकर स्वार्थों को शान्त करने के लिए महत्त्वपूर्ण सन्देश हमारे पास है, पर उन सन्देशों को संसार में कोई सुनाने वाला चाहिए । काम करने के लिए, सन्देश सुनाने के लिए सन्देशवाहकों की आवश्यकता तो है ही । आप धर्म का उत्तरदायित्व समझिये, इसे अपने कन्धों पर लीजिए और पार लगाइए ।

ॐ

सुदर्शन का अभय-दर्शन

भारतीय संस्कृति वीरत्व और साहस की संस्कृति रही है । उसका हृदय आत्मा की अनन्त शक्तियों से खींचा गया है, इसलिए उसकी अहिंसा भी शौर्य-प्रधान रही है, और उसकी करुणा का स्रोत भी वीरत्व के महानद से निकला है । भारत की वीरता शरीर की हृष्ट-पुष्टता तथा माँसलता पर कभी केन्द्रित नहीं हुई, बल्कि वह सदा आत्मा के साहस और धैर्य पर अवलम्बित रही है । वहाँ वीरता का मापदण्ड—‘कितनों की मौत के घाट उतारा’ इसमें नहीं किया गया है, अपितु कितनों को अभय दिया, मौत से लड़ने का साहस कितना है, इसी बात पर से तोला गया है । मृत्यु के रौद्र अट्टहास पर भी जो हँसते रहे, और अपने जीवन एवं धैर्य से उसे परास्त कर दिया उनकी वीर गाथाएँ भारत के हृदय में लिखी हुई हैं । उनकी प्रकाश-रश्मिँ आज भी हमारे पथ को आलोकमय बना रही हैं, हमें अभिनव प्रेरणाएँ दे रही हैं ।

संस्कृतिओं का केन्द्र

आज हम एक ऐसी ही सुविश्रुत घटना की चर्चा करेंगे जिसकी याद से ही हमारी नसों में एक नया रक्त दौड़ने लग जाता है । भगवान महावीर के युग की वह घटना है । आज से पच्चीस सौ वर्ष पहले, भारत की वही प्रसिद्ध नगरी राजगृह जिसका अतीत गौरव पूर्ण रहा, वर्तमान उन्नतिशील था, राजगृह उस समय धन-कुबेरों की नगरी थी, व्यापार का बहुत बड़ा केन्द्र था । राजा श्रेणिक की निर्भीक और संतुलित राज्य व्यवस्था और अभय कुमार की नीति कुशलता ने राजगृह के इतिहास को अमर बना दिया । इतिहास की दृष्टि से राजगृह ने अनेक उत्थान पतन देखे, अनेक नाम-करण देखे, जरासन्ध जैसे दुर्धर योद्धाओं की राजधानी रही, बीच में उसका वैभव लुट गया और श्रेणिक के समय में वह पुनः नई अंगड़ाई भरकर पुलक उठी । भगवान महावीर की तरह बुद्ध की भी वह प्रिय नगरी थी । वहाँ पर भगवान महावीर ने ग्यारह चातुर्मास बिताए, और बुद्ध ने भी अनेक वर्षों तक राजगृह में गुजारे । इस प्रकार सांस्कृतिक दृष्टि से भी राजगृह दो महान् संस्कृतिओं का संगम स्थल रही । भगवान महावीर के अनेक कोटयाधीश, अब्जपति

श्रावक राजगृह में निवास करते थे, और विशेषता तो यह थी कि बल और वैभव का इतना अखाड़ा होते हुए भी राजगृह के श्रद्धाजनों की धर्म-निष्ठा और नैतिकता बड़ी ही प्रशंसनीय थी, राजगृह का पुरुष वर्ग ही नहीं, किन्तु नारी समाज भी विशेष जागृत था, जयंती और रेवती जैसी तत्वज्ञ और तार्किक नारियाँ भी राजगृह की देन हैं । जैन और बौद्ध शास्त्र एवं वर्तमान में उपलब्ध अनेक ऐतिहासिक सामग्रियों के आधार पर हम कह सकते हैं कि राजगृह उस समय के भारत की प्रमुख नगरी थी, जिसका राजनीति, व्यापार, संस्कृति, शिक्षा, धर्म, दर्शन आदि प्रत्येक दृष्टि से विशेष महत्व था ।

समवशरण

राजगृह के इन्हीं धन-कुबेरों में से एक था सुदर्शन । भगवान महावीर का परम भक्त ! उठती हुई जवानी में त्याग और वैराग्य का अद्भुत सामञ्जस्य था । उसकी धमनियों में महावीर का रक्त बहता था, बड़ा दृढ़ श्रद्धालु ! बड़ा ही निर्भीक था वह !

एक दिन आकाश में देव दुंदभियाँ बज उठीं, हजारों लाखों देवताओं के विमान सीधे राजगृह के गुणशील चैत्य में जाकर रुकने लगे, और देवी देवताओं का अपार झुण्ड भगवान् महावीर के चरणों में जाकर धर्म देशना सुनने को लालायित हो रहा था । भगवान महावीर का समवशरण आज राजगृह में लगा था, किन्तु आज एक भी नागरिक भगवान के दर्शन करने को नहीं पहुँचा । भगवान के आगमन का संवाद सुनकर राजगृह का बच्चा-बच्चा घर से गुणशील चैत्य की ओर निकल पड़ता था, असंख्य नर-नारियों का झुंड खुशियाँ और बधाइयाँ बाँटता हुआ समवशरण की ओर पानी की तरह बहता था, वहाँ आज सभी घर के घरोंदों से बाहर निकलते ही घबरा रहे थे, कोई साहस करके थोड़ी दूर चल पड़ता तो वापिस कलेजा धक्-धक कर उठता, और मन मसोस कर लौट आता । राजगृह भर में अर्जुन माली का आतंक था, उसके नाम से ही लोग कांप रहे थे । अंधेरे में उसकी छाया को दिखाकर माताएँ बच्चों को डराती थीं ।

बात यह थी कि राजगृह के बाहर अर्जुन नाम का एक माली रहता था, शरीर से बड़ा हृष्ट-पुष्ट था, उसका एक बगीचा था, जिसमें सब ऋतुओं के नाना फल-फूल होते थे, सुन्दर और सुगन्धित फूलों से उसका

बगीचा और उसके आस-पास का वातावरण महक रहा था । अर्जुन की पत्नी का नाम बन्धुमती था । वह भी बड़ी सुन्दर और सुशील थी । वह प्रतिदिन सुबह उठकर पहले स्नान करती, फिर उसी बगीचे में उसके कुल देव मुद्गर पाणि नामक यक्ष का मन्दिर था, जिसके ताजे और सुन्दर फूलों से पूजा करता और फिर फूलों को तोड़कर गजरे बनाता और इन्हें बेचकर अपनी आजीविका चलाता ।

राजगृह में कुछ धनी और उच्छृंखल व्यक्तियों की एक मण्डली (गोष्ठी) थी, जो ललित के नाम से प्रसिद्ध थी । आमोद-प्रमोद, भोग विलास में ही उनका जीवन बीतता । धन और शक्ति का मद ऐसा होता है कि यदि उस पर विवेक का अंकुश न रहे तो वह मनुष्य को समाज व राष्ट्र द्रोही तथा गुण्डा बना देती है । समाज व व्यक्ति के जीवन की सुरक्षा के लिए सामाजिक मर्यादाओं व राजनीतिक अंकुश की भी आवश्यकता होती है । यदि यह न हो तो जीवन में अस्त-व्यस्तता तथा उलझनें आती हैं और अपराधों तथा हत्याओं के भीषण काण्ड होने लग जाते हैं । यही बात राजगृह में चरितार्थ हो रही थी । एक दिन उन्हीं छहों मित्रों की गोष्ठी उस बगीचे में पहुँच गई, उस समय अर्जुन माली यक्ष की पूजा कर रहा था और उसकी पत्नी फूल बीन रही थी । दुष्टों के हाथ यह अच्छा अवसर लग गया, वे बन्धुमती के सौन्दर्य पर बहुत समय से आँख गड़ाए ताक रहे थे, आज उन्हें मौका मिल गया, अर्जुन माली को उन्होंने रस्सियों से बाँध दिया । और उसी की आँखों के सामने उसकी पत्नी के साथ बलात्कार करने लगे, पत्नी जोर-जोर से चिल्लाने लगी, उसकी चिल्लाहट और यह वीभत्स काण्ड देखकर अर्जुन माली का खून तो खौल उठा, उसकी नसें फड़कने लगीं, पर करे भी क्या ? आखिर गहरा बंधा था । उसके मन में क्रोध और रोष की ज्वालाएँ भभकने लगीं, पहले उसने उन्हें गालियाँ निकालीं, फिर राजा को कोसा जिसके शासन में इस प्रकार के उच्छृंखल स्वच्छंदाचार होते हैं और यों किसी सदृहिणी की अस्मत् लूटी जाती है ।

वास्तव में जिस राज्य में प्रजा की आत्मा पीड़ित होती है, अन्याय और व्यभिचार को बढ़ावा मिलता है, उस पर कोई कड़ा कदम नहीं उठाया जाता वह राज्य, राज्य नहीं किन्तु कुराज्य होता है । वह शासन दुःशासन होता है । आचार्य हेमचन्द्र के एक प्रतिभाशाली शिष्य आचार्य रामचन्द्र ने एक प्रकरण में कहा है कि —“स्वच्छंदाचारी व्यक्ति राज्य में अव्यवस्था फैला देते हैं । उनका दमन करना राजा का कर्तव्य है ।”

जो राजा रणक्षेत्र में शत्रुओं के खून से होली खेलता है, कितनी ही माताओं की गोद से उनके लाड़ले पुत्र छीनता है और कितनी सुहागिनों का सिंदूर लूटता है वह बहुत बड़ी हिंसा करता है, अधर्म करता है, किंतु उस राजा को इस पाप से मुक्ति दिलाने वाला यदि कोई मार्ग है तो वह यही है कि—निःस्वार्थ अक्षपात रहित होकर न्याय करे, प्रजाजनों की रक्षा करे और उन्हें न्यायमार्ग की ओर प्रेरित करे ।

हाँ, तो इस अत्याचार के सामने अर्जुन माली का आक्रोश राजा पर निकल रहा था, फिर उसे अपने कुलदेव मुद्गर पाणि यक्ष पर रोष आया और वह मूर्ति के समक्ष बरस पड़ा—यक्ष की आज तक पीढ़ियों से मेरे पूर्वज ही पूजा करते आये हैं, मैं भी बचपन से तेरी पूजा किए बिना मुँह में अन्नाजल नहीं लेता, मैंने जो कुछ समझा तो तुझे ही समझा, किंतु तू ऐसा निकला कि तेरी ही आँखों के सामने तेरे भक्त पर अत्याचार हो रहा है और तू सोया पड़ा है, मैंने तुझे देवता समझा, किंतु आज मालूम हुआ है कि तू पत्थर और धातु की प्रतिमा के सिवाय कुछ नहीं है, निरा ढोंग और ढकोसला है । तूने आज तक लिया ही लिया, किंतु जब देने का समय आया तो तू जड़ बनकर देखता रहा, एक ललकार भी नहीं दे सका, इस प्रकार अर्जुन माली का हृदय आक्रोश से जल रहा था—देवता ने यह दृश्य देखा और अपने भक्त की जलती हुई आत्मा को भी देखा, तत्काल अर्जुन माली के शरीर में अद्भुत पौरुष जाग उठा, तड़-तड़ सब बन्धन टूट गये और यक्ष का मुद्गर उठाकर एक ही प्रहार में छहों मित्रों और अपनी पत्नी को मिट्टी का ढेर बना दिया । इस पर भी उसका उत्कट क्रोध शांत नहीं हुआ, वह नगरवासी लोगों और राजा पर भी क्रुद्ध हो रहा था कि नगर में इस प्रकार गरीबों के साथ अत्याचार किया जाता है, उन्हें कोई रोकने वाला नहीं, चाहे जैसे मन मानी करें । इस क्रोध में आग बबूला हुआ वह हाथ में मुद्गर लिए बगीचे के बाहर घूमता, और रास्ते से गुजरने वाले राहगीरों में छह पुरुष और एक स्त्री की हत्या करके ही मुँह में अन्न जल लेता । नगर में सनसनी फैल गई चारों तरफ आतंक छा गया इस रास्ते मौत बरसने लगी और आखिर राजा को नगर का द्वार बन्द करवाकर यह घोषणा करनी पड़ी कि कोई भी नगर के बाहर नहीं जायेगा, अन्यथा उसकी रक्षा की कोई भी जिम्मेवारी नहीं है । इस प्रकार समूची राजगृही एक कैदखाना बन रही थी, और उसके निवासी भीतर ही भीतर घुट रहे थे, दम तोड़ रहे थे ।

मुक्ति का राही

उसी समय नगर में यह चर्चा उठी कि भगवान महावीर राजगृह के उद्यान में पधारे हैं । जनता में श्रद्धा और भावना का प्रवाह जरूर प्रबल था, किन्तु इतना साहस कौन करे कि भगवान के दर्शन से पूर्व ही मौत के दर्शन करने पड़ें । मुक्ति की राह पूछने वाले बहुत होते हैं किन्तु मुक्ति का राही कोई विरला ही होता है, सुख और आनन्दमयी मुक्ति की बातें करने वाले मजनुँ बहुत मिल जाते हैं, किन्तु जब मुक्ति के लिए प्राणार्पण करने की बात आती है तो चुपके से पीछे हट जाते हैं, इस भाव को चित्रित करते हुए कवि ने कहा है—

खाते-पीते हरि मिले तो हमको भी कहना ।

शिर के दिए जो मिले तो चुपके ही रहना ॥

मुक्ति की इस कंटीली और कंकरीली राह पर नाजुक चरणों वाला व्यक्ति लड़खड़ा जाता है, इस राह पर वही चल सकता है, जिसके पैरों में लोहा जड़ा होता है, और जिसका साहस सीमेंट की तरह संकटों के पानी से और भी ज्यादा मजबूत होता है ।

राजगृह में भगवान महावीर के भक्तों की कमी नहीं है । और न ही उनके प्रति श्रद्धा की भी कमी थी, किन्तु सवाल तो यह था कि मौत का सामना कौन करे ?

सुदर्शन ने जब यह सुना तो उसकी आत्मा में आनन्द की लहरें उठने लगीं, वह भगवान महावीर के दर्शन को जाने की तैयारी करने लगा, जब उसने माता-पिता के पास आकर अनुमति माँगी तो माता-पिता चौंक उठे—बेटा ! तुम अकेले कहाँ जाओगे ? जानते नहीं हो, नगर के बाहर वह अर्जुन माली मनुष्य के खून का प्यासा बना घूम रहा है, भगवान के निकट जाने से पहले ही वह तुम्हारी हत्या कर डालेगा तो क्या करोगे ?

सुदर्शन ने उन्हें धैर्य बँधाते हुए कहा—पिताजी ! मारना और जिलाना अर्जुन माली के हाथ नहीं है । उसकी आत्मा अभी मनुष्य के प्रति विद्रोही हो रही है, जब तक प्रेम का दर्शन उसे नहीं मिलता, वह शान्त नहीं हो सकता, उसका राक्षस प्रेम के देवता से ही वश में आ सकता है । मैंने भगवान महावीर से प्रेम का दर्शन पाया है । मैं उसे भी उसी प्रेम के देवता के चरणों में ले जाकर बिठाने का प्रयास करूँगा ।

माता-पिता ने उसे फिर समझाया कि देखो—बहुत के विरुद्ध अकेले

नहीं चलना चाहिए, जब नगर का कोई भी व्यक्ति उधर जाने का साहस नहीं करता तो तुम अकेले ही ऐसा क्यों करते हो ? क्या तुम्हीं सबसे अधिक श्रद्धावान हो ? भगवान तो सर्वज्ञ हैं, यहीं पर बैठे यदि वन्दना करोगे तो भी वह स्वीकृत हो जायेगी, वन्दना भाव से होती है, उसमें दूर क्या, निकट क्या ? बहुत बार भगवान के चरणों में सिर लगाने पर भी मन कहीं और भटकता रहा तो क्या लाभ हुआ ? अतः घर बैठे ही वन्दना कर लेना उचित है ।

सुदर्शन का मुख मण्डल तो शौर्य से दीप्त हो ही रहा था, पिता की बातें सुनकर उसकी वाणी में भी ओज भर आया—पिताजी ! मेरी श्रद्धा निःसत्त्व नहीं है, जो अपने देवता को सामने आया देखकर भी मारे भय के बहाना ढूँढ़ती रही, और उसके चरणों में जाकर अपने को अर्पित करने से वंचित रहा । यह सही है कि भगवान् सर्वज्ञ हैं, सबके भाव जानते हैं, किन्तु यही चीज मानकर यदि हमने अपने घर बैठे ही वन्दना करने का क्रम शुरू कर दिया तो फिर हर अवस्था में हम यही बहाना निकालते रहेंगे । हमारी श्रद्धा पंगु बन जायेगी । अतः आप आज्ञा दीजिए कि मैं भगवान महावीर के चरणों में जाऊँ ।

माता-पिता ने आखिर सुदर्शन के आग्रह पर विवश होकर आज्ञा दी । अब सुदर्शन ने राजा श्रेणिक से आज्ञा मांगी, श्रेणिक भी सुदर्शन की साहस और श्रद्धा भरी बातों से चमत्कृत हो गया और नगर से बाहर जाने की अनुमति दे दी । जिसने भी सुदर्शन की यह साहस भरी बात सुनी, वही उसके शौर्य की प्रशंसा करने लग गया ।

सुदर्शन अब आनन्दित हो रहा था, नगर का द्वार खोला गया और उसके निकलते ही तुरन्त बन्द कर दिया गया, सुदर्शन आगे बढ़ा, थोड़ी दूर गया, कि अर्जुन माली हाथ में मुद्गर लिए घूमता हुआ दिखाई पड़ा । सुदर्शन को देखते ही वह उसकी ओर दौड़ा । सुदर्शन ने देखा कि मौत सामने आ रही है, हाथ में मुद्गर लिए यह रौद्र आकृति मनुष्य के खून से अपनी प्यास बुझाने के लिए बेतहाशा दौड़ लगा रहा है । सुदर्शन ने धैर्यपूर्वक वहीं पर कदम थमा दिए, भूमिका परिमार्जन (अवलोकन) करके भगवान की ओर वंदना की । प्रभो ! सामने मारणांतिक उपद्रव आ रहा है, यदि इस उपद्रव से मुक्त हुआ तो प्रभु के चरणों में आकर वन्दना करूँगा, नहीं तो यहीं से मेरा वंदन स्वीकृत हो । वंदना करके उसने संथारा (सागारिक) भी

ले लिया कि इस उपद्रव की अवधि तक अठारह प्रकार के ही पाप करने का प्रत्याख्यान करता हूँ, और वहीं कायोत्सर्ग करके खड़ा हो गया ।

प्रेम की विजय

अर्जुन माली ने आज पहली बार ऐसा पुरुष देखा जो मौत के सामने देखकर इधर-उधर भागने का प्रयत्न न करे, रोना चिल्लाना कुछ भी न करे, अपितु धैर्य के साथ सीना तान कर जैसे मौत को ही ललकारने लगा हो । उसके शरीर में मुद्गर-धारी राक्षस का बल था, खून की प्यास जगी हुई थी, सुदर्शन पर लपकता हुआ जोर-जोर से बोल रहा था—आज यह अभागा मेरी प्यास बुझाने आया है, बहुत दिनों से कोई भी शिकार नहीं आया, आज इसकी खबर लूँ यह कहकर ज्योंही सुदर्शन पर उसने अपना मुद्गर उठाया तो वह उठा ही रह गया, कुछ पीछे हटकर उसने जोर लगाना चाहा, किन्तु हाथों को तो जैसे लकवा मार गया हो, मुद्गर चला नहीं, अर्जुन माली हतप्रभ-सा होकर सोचने लगा यह क्या हुआ ?

वास्तव में सुदर्शन के धैर्य और तेज के सामने मुद्गर-पाणि यक्ष निस्तेज हो गया । उसका हिंसक और क्रूर मानस इस प्रेम के पुतले के समक्ष बदल गया और वह अपना बल-वीर्य समेट कर अर्जुन माली के शरीर से निकल कर कूँच कर गया । यह घटना हमें कितना साफ बता रही है कि हिंसा का बल चाहे जितना जबर्दस्त हो, वह अहिंसा के सामने टिक नहीं सकता । क्रूरता चाहे जितनी उग्र हो, किन्तु प्रेम की शीतलता के सामने उसी प्रकार शान्त हो जाती है, जैसे पानी के सामने प्यास । संसार में हमेशा ही प्रेम शक्ति का साम्राज्य चला है, उसके सामने बड़े-बड़े क्रूर-कर्मा, लुटेरे, डाकू भी विनत हुए हैं और अहिंसक बने हैं ।

बौद्ध साहित्य में ऐसी ही एक घटना का सम्बन्ध भगवान बुद्ध के साथ दिखाया गया है, जिसमें अंगुलीमाल डाकू जो मनुष्यों की अंगुलियों की माला बनाकर गले में पहना करता था और उसकी आँखों में खून टपकता था । वह बुद्ध को मारने दौड़ता है, किन्तु उनके तेजस्वी व्यक्तित्व के समक्ष हतप्रभ होकर बुद्ध का उपदेश सुनता है और अहिंसा का पुजारी बन जाता है । इससे यह मान लेने की जरूरत नहीं कि किसी एक ने इस घटना का अनुकरण किया होगा । बल्कि यह तो अहिंसा और प्रेम की विजय कहानियाँ हैं, जो एक दो क्या असंख्य भी इसी प्रकार की हो

सकती हैं । जहाँ-जहाँ भी प्रेम का देवता प्रकट हुआ है वहाँ हिंसा इसी प्रकार परास्त हुई है । अनेक अर्जुन माली और अंगुलीमाल अहिंसा की शरण में आकर कृत-कृत्य हुए हैं ।

हाँ, तो जब अर्जुन माली का कोई वार सुदर्शन पर नहीं चल सका तो वह घबड़ा गया, उसका शरीर बिल्कुल शिथिल और सत्त्वहीन हो गया । वह मूर्छा खाकर धड़ाम से सुदर्शन के चरणों में गिर पड़ा । सुदर्शन ने अब उपद्रव शान्त हुआ देखकर कार्योत्सर्ग पूर्ण किया और अर्जुन माली को हवा देकर चैतन्य किया । अर्जुन ने जब सुदर्शन को हवा देते देखा तो वह रो पड़ा, मैं तुम्हें मारने दौड़ा और तुम मुझे हवा देकर होश में ला रहे हो । सचमुच तुम मनुष्य नहीं देवता हो । मुझ अधम दुष्ट का अपराध क्षमा करो । मैंने बहुत हत्याएँ कीं । अन्याय किए अब क्या होगा—कहते-कहते वह सिसकारियाँ भरने लग गया । सुदर्शन ने उसे धैर्य बँधायी । अर्जुन माली ! घबराओ मत ! तुमने जो पाप किए हैं उनका प्रायश्चित्त भी हो सकता है ? उनसे मुक्त होने का रास्ता भी मिल सकता है । अर्जुन ने कहा—क्या मेरा उद्धार भी हो सकता है ?

सुदर्शन ने कहा—हाँ ! जरूर हो सकता है ।

अर्जुन—कहाँ ? कौन ऐसा महापुरुष है जो मुझ पतित को पावन कर सकता है ?

सुदर्शन ने उसका हाथ पकड़कर उठाते हुए कहा—चलो मेरे साथ ! मैं तुम्हें उस देवता के चरणों में ले चलूँ, जिसने तुम्हारे जैसे अनेक अधमों का उद्धार किया है । उसकी वाणी में वह जादू है, जिसने असंख्य अधमों को बदल दिया है ।

महावीर की शरण में

नगर के लोग इस घटना को बड़े आश्चर्य के साथ देखते रहे ! अर्जुन माली को सुदर्शन के चरणों में गिरा देखकर तो दंग रह गये; और जब-जब वह उसके साथ पतितपावन भगवान महावीर की शरण में जाने को तैयार हुआ, तो लोगों को अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हुआ । मुँह-मुँह पर अब सुदर्शन के धैर्य, अभय एवं दृढ़ निष्ठा की प्रशंसा होने लगी । नगर का संकट टल गया । द्वार खुल गये और पिंजड़े से छूटे कबूतर की तरह हजारों नर-नारियाँ किलकते, कूदते भगवान महावीर के समवशरण की ओर चल पड़े ।

सब की दृष्टि सुदर्शन और अर्जुन पर टिकी हुई थीं । लोग दूर-दूर से देख रहे थे, अब भी उनका दिल आशंकित था कि क्या पता फिर वही नशा चढ़ जाये तो ? दूध से जला छाछ को भी फूँककर पीता है । लोगों के दिलों में इतना साहस भी नहीं था । निष्ठा भी नहीं थी कि वे इतनी जल्दी किसी हत्यारे का विश्वास करते । और प्रेम की वे आँखें भी नहीं जिससे अर्जुन माली के हृदय को पढ़ सके । सुदर्शन के साथ अर्जुन माली भगवान की सभा में पहुँचा । भक्तिपूर्वक वंदना की और उपदेश सुनने बैठ गया ।

भगवान का उपदेश अर्जुन के हृदय को बीधता हुआ आर-पार हो गया । उपदेश खत्म होने पर वह उठा और भगवान के चरणों में आकर उपस्थित हुआ—भगवान ! मेरा उद्धार करो । मैंने जीवन भर पाप किए हैं, अनेक निपराध स्त्री, पुरुषों और मासूम बच्चों का खून किया है, मैं बड़ा पापी हूँ । मुझे कल्याण का पथ दिखाओ । कहते-कहते उसकी आँखों में पश्चात्ताप के आँसू बह चले । उसने फिर निवेदन किया—प्रभो ! मैं इस पाप का प्रायश्चित्त करना चाहता हूँ । आपके चरणों में दीक्षित होकर तपस्या की आग में अपनी आत्मा को तपाऊँगा । भगवान ने कहा—अहासुहं देवाणुषिया ! जैसा सुख हो, वैसा करो । बस ! भगवान की अनुमति मिली और वह दीक्षा लेकर अब बेले-बेले की तपस्या करने लग गया, पारणे में नाना प्रकार के अभिग्रह प्रतिज्ञा आदि भी करने लगा । जब वह नगर में भिक्षा लेने को निकलता तो लोग उसे देखकर आक्रोश पूर्वक ढेले फेंकते, गालियाँ निकालते । कोई कहता—यह मेरे पुत्र का हत्यारा है, अब ढोंगी साधु बन गया है, कोई कहता इसने मेरी स्त्री की हत्या कर दी है । इस प्रकार नाना प्रकार की ताड़ना और त्रास उसे दी जाने लगी । अर्जुन मुनि बड़ी समता से उसे सुनता । मन में सोचता ये तो मुझे सिर्फ गालियाँ ही निकालते हैं, या पीटते ही हैं; किन्तु मैंने तो इनके स्वजनों के खून से हाथ रंगे हैं, वास्तव में ही मेरे कृत्य निन्दनीय हैं ।

यह एक महान साधक था । अनेक तर्जना, ताड़ना एवं त्रास को समभावपूर्वक सहते हुए अपनी आत्मा को कसता है, तपाता है और स्वर्ण की तरह उज्वल बनाता है । प्रतिदिन सात-सात मनुष्यों की हत्या करने वाला व्यक्ति उसी जीवन में महान साधना करके मुक्त हो जाता है ।

पर्युषण के दिनों में इतिहास के इन गुलदस्तों को इसलिए खोला जाता

है कि इनकी मनभावनी भीनी गंध से हमारी दुर्भावनाओं की दुर्गन्ध दूर हट जाए और जीवन में सुगन्धि फैले ।

सुदर्शन का यह अभय दर्शन या प्रेम दर्शन वह कमाल दिखाता है, जो बड़े-बड़े तांत्रिक, यांत्रिक और वीर भी नहीं दिखा सके । मौत के सामने अटल धैर्यपूर्वक खड़े रहकर उसने मुद्गर पाणि को जीता और अपने ही हत्यारे की सेवा शुश्रूषा करके समझा बुझा के महावीर के चरणों में लाकर खड़ा किया । अर्जुन माली जैसे क्रूर कर्मी को, इतना दयालु और इतना सहनशील बनने की प्रेरणा देने वाला वह सुदर्शन महावीर का सच्चा प्रतिनिधित्व करता है, उसकी आत्मा में महावीर की आत्मा बोलती है, उसके आचरणों में महावीर का धर्म संदेश घूमता हो, ऐसा लगता है । हम उसके जीवन दर्शन से प्रेरणा लें और आत्मा की भूमिका को इतनी ऊँची बनायें । इसीलिए यह आख्यान पढ़ा जाता है और इसीलिए भगवान महावीर ने अन्तकृत दशांग सूत्र में अपने शिष्यों को आह्वान करके इस आदर्श की प्रेरणा दी है ।

ॐ

नारी-जीवन

भारतवर्ष के एक प्राचीन मनीषी से, विचारक से और दार्शनिक सन्त से पूछा कि स्वर्ग कहाँ है ? बहुत बड़ा प्रश्न है और एक जटिल प्रश्न है यह । अनन्त-अनन्त काल से मनुष्य के सामने यह प्रश्न रहा है, स्वर्ग कहाँ है ? सन्त से पूछा और उसने चिन्तन के समुद्र में गहरी डुबकी लगाई । डुबकी लगाने के बाद जब उनका चिन्तन ऊपर उभर कर आया, तो वे बोले—“जिस घर में गृह स्वामिनी और नारी की आँखों में प्रेम की ज्योति जलती रहती है और हृदय में प्रेम का सागर हिलोरें मारता है । जिसके हाथों से दान की, सेवा की अनन्त-अनन्त वर्षा होती रहती है, जो इधर-उधर के कड़वेपन को, अपमान को, तिरस्कार को और चारों ओर से होती हुई निरन्तर जहर की वर्षा को पीकर उसे अमृत बना और फिर उस अमृत की वर्षा करती है; वह गृह स्वर्ग है ।”

प्रश्न पूछा कि नरक कहाँ है ? दूसरा प्रश्न भी वायुमण्डल में घूम गया । वही पुराना प्रश्न; जो कि हजारों, लाखों, करोड़ों और अनन्त-अनन्त वर्षों से समाधान माँगता रहा है । सन्त ने पुनः चिन्तन के सागर में डुबकी लगाई और जब चिन्तन ऊपर उभर कर आया तो वे बोले—“जिस घर की मालकिन मुँह चढ़ाया करती है, बात-बात पर जिसकी त्योरियाँ चढ़ जाती हैं । जरा इधर-उधर सेवा का काम आ पड़ा तो बड़बड़ाने लगती है । जो स्नेह के, प्रेम के, सद्भावनाओं के अमृत को लेती है; परन्तु उस अमृत को पीकर बदले में जहर उगलती रहती है । एक दूसरे की निन्दा करती रहती है । एक दूसरे के बीच आपस में तेरे और मेरे की दीवारें खड़ी करती रहती है । जो छोटे से घर के टुकड़े-टुकड़े करती रहती है । जहाँ ऐसी नारी है, वहीं उसी घर में नरक है ।”

यहाँ आकाश के स्वर्ग की चर्चा नहीं और न ही पाताल के नरक की चर्चा है । यह उस स्वर्ग और नरक की चर्चा है जहाँ मनुष्य निवास करते हैं और जिसके फलस्वरूप आकाश पाताल का स्वर्ग मिला करता है । यह उस बात उस सन्त ने आध्यात्मिक भाषा में, दार्शनिक भाषा में और अलंकार के शब्दों में कही और एक परम-सत्य, जीवन का महत्वपूर्ण सत्य उनकी वाणी में उभर आया । उस सत्य पर अगर ठीक तरह से विचार किया जाए, तो उसमें आपको असत्य का एक अंश भी नहीं मिलेगा ।

भारतवर्ष के दार्शनिक इतिहास में, आध्यात्मिक इतिहास में सामाजिक और राष्ट्रीय इतिहास में ठीक तौर पर इस समाज का विश्लेषण किया गया है कि मानव समाज एक शरीर है । जैसे कि आपका शरीर एक छोटा-सा केन्द्र है, उसी प्रकार सारे इन्सानों को मिलाकर यह एक समाज रूपी विराट शरीर है । इस विराट शरीर के दो भाग किए गए हैं । एक भाग में नारी खड़ी है और दूसरे भाग में नर । एक तरफ बहिन खड़ी है और दूसरी तरफ भाई । जीवन के इन दो भागों को मिलाकर एक रूप दे दिया गया है । इस एक रूप में हजारों, लाखों, करोड़ों नारियाँ समाज रूपी शरीर के इस एक भाग का प्रतिनिधित्व कर रही हैं और हजारों, लाखों, करोड़ों मनुष्य दूसरे भाग का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं तो मानव समाज न केवल नर है और न केवल नारी ही है । नर और नारी दोनों मिल कर, केवल ऊपर से ही नहीं अन्दर से मिलकर, एक दूसरे के जीवन में ओत-प्रोत होकर पुरुष के हृदय में नारी मिल जाए और नारी के हृदय में पुरुष मिल जाए; इस प्रकार से एक दूसरे के हृदय में प्रवेश की कहानी है । दार्शनिक भाषा में इसी को समाज कहते हैं ।

मैं, आपसे बात कर रहा था कि हमारे इस भारतीय जीवन में और चिन्तन में कुछ लोगों ने भूल से पुरुष को महत्व दे दिया है और उसकी महत्वपूर्ण कथाएँ एवं आदर्श संसार के सामने रखे गए हैं । यह ठीक है कि स्थूल रूप में, बाह्य रूप में, जीवन की हलचल में, संघर्ष में पुरुष हिमालय की भाँति खड़ा रहा है और इसीलिए उसकी खूब पूजा होती रही । उसने अपनी पूजा संसार में आगे बढ़-बढ़ कर कराई भी हैं । लेकिन वे गंगाएँ, जो कि एक से दूसरे सिरे तक भारतवर्ष के मैदान में बहीं; वह यमुनाएँ, जो कि भारतवर्ष के मैदान में जिधर भी निकलीं, उधर अपनी सरलता, शीतलता और जीवन की मधुरता बहाती रहीं, उस नारी को इस विराट समुद्र में लीन कर दिया गया है, उसका अस्तित्व समाप्त कर दिया गया है । भारतवर्ष की नारियाँ विराट हिमालय से दैत्याकार रूप में तो खड़ी नहीं हो सकीं, लेकिन उनके हृदय, गाम्भीर्य और प्रेम से छलकती हुई गंगाएँ, यमुनाएँ या सरस्वतियाँ परिवार में, समाज में, राष्ट्र में, धर्म के क्षेत्र में और कर्म के क्षेत्र में बहती रहीं हैं । जिनके ऊपर हजारों, लाखों, करोड़ों वर्षों से मानव समाज टिका हुआ है ।

भारतवर्ष के दार्शनिकों ने किसी भी परिवार के लिए, किसी भी समाज के लिए और किसी भी राष्ट्र के लिए तीन शक्तियों की आवश्यकता बताई है। एक शक्ति वह है जो कि बल की है। एक वह है, जो कि बौद्धिक शक्ति है और एक शक्ति वह है, जो कि धन के रूप में है।

कोई भी परिवार, समाज या राष्ट्र, जो कि जिन्दा ही मुर्दा हो गए हैं, उनके ऊपर कोई गर्व कर सकता है? पहला साधन बल है। जिसमें बल है, मन की सुदृढ़ शक्ति है, वह सब कुछ कर सकता है, और यह, नहीं रही तो कुछ नहीं हो सकता। बल है, वहाँ सब कुछ है। बल का अर्थ है, स्वस्थ और सुदृढ़ शरीर। स्वस्थ शरीर स्वस्थ मन का घर है। धर्म की आराधना के लिए भी स्वस्थ शरीर का होना आवश्यक है। एक निर्बल की अपेक्षा बलवान व्यक्ति धर्माराधना विशेष रूप में कर सकता है। शास्त्र कहते हैं—मुक्ति पाने के लिए, साधना के उस कठोरतम मार्ग पर चलने के लिए वज्रऋषभनाराच संहनन होना आवश्यक है। इस पर से हम बल की महत्ता का मूल्यांकन कर सकते हैं।

शारीरिक बल के साथ ही बौद्धिक शक्ति का होना भी अनिवार्य है। हड्डी का शरीर ले लें, दो चार मन मांस और हड्डियों का ढेर कर लें, परन्तु अगर उसमें दिमाग की शक्ति नहीं है, समाज के प्रति, परिवार के प्रति, राष्ट्र के प्रति मेरा क्या कर्तव्य है? दूसरों के साथ कैसे रहना चाहिए? जीवन के कठिन प्रश्नों पर विचार करने की शक्ति उसमें नहीं है, तो मैं पूछूँ कि ऐसा परिवार, समाज या राष्ट्र कैसे जिन्दा रह सकता है? कोई भी समाज हो, जब प्रश्न खड़े होते हैं; अग्नि की तरह जलते हुए, दावानल की तरह धधकते हुए, तो उस समय मनुष्य घबड़ा कर खड़ा हो जाता है, मस्तिष्क काम नहीं देता और उस प्रश्न के उत्तर में वह यह भी नहीं कह सकता, वह भी नहीं कह सकता। धर्म और कर्म के प्रश्न सामने आने पर निर्णय करने की क्षमता न होने के कारण यदि एक-दूसरे का मुँह ताकने लगे, तो वह समाज कब तक जीवित रहेगा?

आज का जिज्ञासु साधक प्रत्येक प्रश्न का समाधान चाहता है। आज तर्क का युग है, वह ज्वालामुखी की तरह गरज कर बाहर आ रहा है। जीवन के मैदान में अब लड़ने का समय आ गया है और योद्धाओं की तलवारें चमक रहीं हैं, मतलब कर्म की तलवारें। आज जैन धर्म से क्या वह किसी भी धर्म से पूछता है कि अब क्या करना है और क्या नहीं करता है? हां, महाभारत काल में जैसे एक अर्जुन हो गया

था उसी प्रकार धर्म और कर्म के क्षेत्र में हजारों वीर अर्जुन हो गए हैं । तो आज का अर्जुन जब प्रश्न करता है, तो समाधान करने के बजाय धर्म के सिंहासन चुप हो रहे हैं और धर्म के ये दावेदार मौन पकड़ रहे हैं । न उनसे हाँ कहते बनती हैं और न उनसे ना कहते बनती है । जातीयता के प्रश्नों पर व्यर्थ के उन क्रिया काण्डों पर, जो समाज को बाहर और अन्दर से सड़ा रहे हैं; जब कभी समाधान चाहते हैं तो धर्म के ये ठेकेदार मौन पकड़ लेते हैं । आज से ढाई हजार वर्ष पहले भगवान महावीर ने कहा है—“मैं वह नहीं हूँ, जो न इधर हूँ, और न उधर । मैं वह हूँ जो ठीक किनारे पर हूँ । जीवन के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में यदि हाँ हो तो हाँ कहने में मुझे कोई हिचक नहीं और यदि ना हो, तो उसमें भी कोई हिचक नहीं । संसार की कोई ताकत नहीं, जो मुझे रोक सकती हो ।” मैं कह रहा था कि आज का तर्कवादी मानव जब प्रश्न करता है तो जवाब मिलता है कि तुम्हीं समाधान करो । अन्धा बेचारा रास्ता नहीं देख पा रहा है । वह रास्ता पूछ रहा है और जवाब मिलता है कि तू ही देख वह देखे कैसे ?

मैं आपसे विचार कर रहा था कि किसी भी देश की या समाज की बौद्धिक शक्ति गिर जाती है प्रकाश नहीं रहता है, तब उस देश, समाज या राष्ट्र का कल्याण नहीं हो सकता । और इस प्रकार सामाजिक या राष्ट्रीय क्षेत्र में हमारे हाथ खाली हो गए हैं । इन हाथों में न तो धन का उत्पादन करने की शक्ति है और न धन को अर्पण करने की शक्ति ही है । न ही हाथों में वह शक्ति है कि जिसमें कुछ अर्जन उत्पादन किया जा सकता है और न वक्त पड़ने पर हीरे जवाहरात के जो ढेर हैं, उनका लुटा देने की ही शक्ति आज हाथों में है । आज वह तो साँप की तरह फुसकार मार रहे हैं, बिच्छू की तरह डंक मार रहे हैं । वह आकाश के तारों से भाग्य का फैसला पूछ रहे हैं, लेकिन इस जीवन प्रवाह में जो कि जीवन के तारे हैं, उनसे अपने भाग्य का फैसला नहीं पूछते ।

मैं कह रहा था कि आज देश दरिद्र है और दरिद्रता से बढ़कर संसार में दूसरा कोई पाप नहीं, अभिशाप नहीं । भारतवर्ष तो वह देश है, जहाँ बच्चे भोजन के लिए तिलमिला रहे हैं । माता-पिता एक एक दाने के लिए तड़फ रहे हैं और चारों ओर दरिद्रता का दैत्य खड़ा है विकराल स्वरूप में । वहाँ है कोई माई का लाल ? वहाँ अगर पाप नहीं होगा तो क्या होगा ? जो भूखे हैं, उन्हें कुछ अच्छा मालूम नहीं

पड़ता । तो देश के लिए यह भी आवश्यक है कि बौद्धिक शक्ति भी चाहिए और धन भी चाहिए ।

इसके लिए भारतवर्ष के मनीषियों ने तीन देवियों को चुना । संसार की शक्ति कौन ? दुर्गा है । और वह दुर्गा है, जिसका नाम लेते ही एक विराट शक्ति समाज के सामने खड़ी हो जाती है । उसका आदर्श है कि संसार के अन्दर अन्याय और अत्याचार जो भी हैं, जो कुछ भी खराबी है, बुराई है, उसको खत्म कर देना एक ही झोके में । तो उस विराट शक्ति का प्रतिनिधित्व करने के लिए आप में से किसी देवता को खड़ा नहीं किया गया । देवी को खड़ा किया गया है । और जब बौद्धिक प्रश्नों के समाधान का समय आता है, तो वहाँ भी देवी का ही नाम लिया गया है । सरस्वती बौद्धिक शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है । वह सरस्वती, जिसके गले में मोतियों की माला है और हाथों में वीणा के तार, हंस जिसका वाहन है; वही सरस्वती हजारों, लाखों और करोड़ों वर्षों से साहित्यिक क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करती चली आ रही है । इसी प्रकार संसार में धन के उत्पादन का प्रश्न आया तो वहाँ भी देवियों को आगे लाकर खड़ा कर दिया गया । वह देवी के रूप में, नारी के रूप में, लक्ष्मी के रूप में सामने आई । तो मैं आपसे कह रहा था कि उन दार्शनिकों, विचारकों ने जो चिन्तन और मनन किया है या विचार के क्षेत्र में जो कल्पनाएँ उठाई हैं, वे कितनी महान हैं, सही हैं ।

पश्चिम में नारी को महत्वपूर्ण स्थान दिया है । प्राचीन भारतवर्ष में भी नारी को महत्वपूर्ण स्थान पर पहुँचाया गया है दुर्गा के रूप में क्या ? सरस्वती के रूप में क्या ? लक्ष्मी के रूप में क्या ? उसकी लाखों वर्षों से पूजा होती रही है ? किन्तु उस नारी की आज भारतवर्ष में क्या दशा है । वह नारी, जो कि जीवन में प्रेम की, क्षमा की, दया की, सद्भावना की एक धारा बहा देती है, उसकी आज क्या दशा है ? आप देखेंगे सुबह होते ही वह उठकर गृह-कार्य में जुट जाती है । मैले बरतन साफ किए फिर चूल्हा जलाया और भोजन बनाने में जुटी । खूब गर्मी है । आग बरस रही है फिर भी वह भट्टी के पास बैठी है और पसीने से तरबतर हो रही है, परन्तु यह गंगा उसे सहन कर रही है । सुन्दर पद्धति से भोजन तैयार करने में संलग्न है । भोजन तैयार होता है । सास ससुर आ रहे हैं, वह उनको बड़े प्रेम से, सद्भावना से, जो कुछ भी सुन्दर बना है, वह उनके सामने रख देती है बड़े आदर से, भक्ति

से, श्रद्धा से । उचित हाथों और उचित भावों से दिया जा रहा है । फिर जेठ, देवर, पति आ गए । वह उनको भी जो कुछ है, सेवा में अर्पण किए जा रही है । बच्चे आ गए किलकारी मारते हुए । कुछ खा रहे हैं, कुछ फेंक रहे हैं, उनको मनाना भी है और नियंत्रित भी करना है । अच्छे से अच्छा जो कुछ भी है, वह सब उँदेलती जा रही है अन्नपूर्णा । फिर क्या है ? सन्त भी पहुँच गए और पात्र भी घूमा । बड़ी ही श्रद्धा से, बड़े ही प्रेम से वह वन्दना कर रही है और जो कुछ भी उपलब्ध है, उस बहराने के लिए तैयार है गद्-गद् भाव से । दो-दो हजार वर्ष से, लाखों वर्षों से भिक्षु के पात्र में जो कुछ प्राप्त हुआ; भगवान महावीर के १४ हजार साधुओं और ३६ हजार साध्वियों को जो कुछ प्राप्त हुआ, वह इस अन्नपूर्णा के द्वारा ही बहराया गया है । उसमें एक महान् शक्ति नियोजित है। जब सारा मामला साफ हो गया है, सुन्दर-सुन्दर भोजन समाप्त हो जाने के बाद जो रूखा-सूखा बच गया है, तब वह स्वयं भोजन करने बैठती है । पर उसके मस्तिष्क में एक सिकुड़न भी नहीं होती । उसके मन में जरा भी रंज, दुःख, क्रोध या द्वेष नहीं होता कि मैं सवेरे से इस आग में जल रही हूँ और मेरे लिए क्या यही बचा है ? इसका कोई विचार नहीं उसके मन में । प्रसन्न भाव से, आनन्द भाव से अवशिष्ट भोजन को प्राप्त कर, फिर वही चमकता हुआ चेहरा लेकर वह अन्नपूर्णा जूठे बरतन साफ करने में जुट जाती है, शाम के भोजन की तैयारी में जुट जाती है । मैं आपसे पूछूँ कि इस प्रकार दया, स्नेह और सरलता की मूर्ति के सम्बन्ध में आपके मस्तिष्क में क्या विचार हैं ? जो कि इस भोजन-यज्ञ में सुबह से शाम तक पसीने में तरबतर होकर जुटी रहती है, भोजन का सरस और सुन्दर अंश परिवार के लोगों को समर्पण कर देती है, सद्भावना के साथ और रूखा-सूखा, बचा हुआ स्वयं उपभोग करती है, जो दूसरों को खिला कर फिर स्वयं खाती है । वास्तव में यदि मन आनन्दित है तो रूखा-सूखा शेष भोजन भी अमृत के समान है । परन्तु यदि आपके सामने ऐसा खाना आ जाए, और कभी ऐसा प्रसंग आ जाए तो पता नहीं आप कितने गज ऊँचे उछल कर पड़ेंगे और सम्भव है आप क्या-क्या कहने लगें । आप कहेंगे कि क्या मैं इसी खाने के लिए हूँ ? सुबह से शाम तक मरता-मरता आया, फिर भी मेरे लिए यही खाना है ? एक दिन भी ऐसा प्रसंग आए तो सम्भव है सातवें आसमान पर दिमाग पहुँच जाए । उस अन्नपूर्णा के लिए तो

पचास-साठ वर्ष की जीवन-यात्रा में प्रतिदिन ऐसे प्रसंग आते हैं, लेकिन उसे कोई शिकायत नहीं ।

तो, मैं कह रहा हूँ कि पर्युषण-पर्व के लिए जो सन्तोष चाहिए, क्षमा चाहिए, अपने अपमान का सामना करके दूसरों के लिए अर्पण करने की जो वृत्ति चाहिए, वह वृत्ति इन बहिनों में, मैं जिस रूप में देख रहा हूँ, क्या कुछ कम है वह ? मैं सोचता हूँ कि भारतवर्ष की वह संस्कृति न मालूम कहाँ से पहुँच गई । आज भारतवर्ष की नारी अपने आपको भूल गई है और उसको जिस रूप में देखना चाहिए, उस रूप में आज का मानव नहीं देख रहा है उसे । आपके यहाँ विवाह तक भी होते थे, अब भी होते हैं । लेकिन जब भारत की नारी को नापते हैं और तोलते हैं कि दस हजार मिले, बीस हजार मिले, तीस हजार मिल जाए, इतना गहना मिले, इतना सोना मिले, चाँदी मिले । इस रूप में जब नारी को तुलते हुए देखता हूँ, तो मैं समझता हूँ कि संसार में नारी का इससे बढ़कर अपमान कोई नहीं हो सकता । भारत की आत्मा को, नारी की आत्मा को, जो कि लाखों वर्षों से इस समाज की रीढ़ की हड्डी बनकर रही है और जिसने इस समाज को बनाया है और जिसने कि बाल बच्चों के रूप में सारे संसार के लिए एक महत्वपूर्ण और जीवन का सर्वस्व समर्पण किया, जिसने कि संसार को महावीर, बुद्ध, राम और कृष्ण जैसी विभूतियाँ दीं; उस नारी को सोने चाँदी के रूप में तोलना, रुपए पैसे में तोलना और अगर यह न मिले तो विवाह से इन्कार कर देना; भाग्य से विवाह भी हो गया और जब कभी सम्बन्धियों या पड़ोसियों ने पूछा कि क्या दिया ? तो कहते हैं कि विवाह क्या हुआ गले में फाँसी पड़ गई है । इस प्रकार आप बहुत बड़ी भूल कर रहे हैं । जैनत्व क्या इसी में है ? पर्युषण पर्व में संसार भर के चौरासी लाख जीवों से, देवताओं, दैत्यों, राक्षसों, नारकियों, जीव-जन्तुओं को क्षमा करने वाले उनसे क्षमा चाहने वालों ! तुम्हारे लोभ, तुम्हारे लालच, तुम्हारी तृष्णा, तुम्हारी भूख का अगर घर में कोई समाधान नहीं कर पा रहे हों और गृह-जीवन बनाने के लिए गृह में जो लक्ष्मी आ रही है, उसको रुपए पैसे से, सोने चाँदी से तोल कर उसका अपमान करते हों, तो मैं समझता हूँ कि इससे बढ़ कर संसार में कोई अत्याचार, कोई अन्याय नहीं हो सकता । यदि आप भारतीय नारी को तोलते हैं, उसकी हड्डियों को, मांस के ढेर को तोलने के लिए जिस तराजू उठाते हैं, उसके रंग-रूप को तोल रहे हैं,

तो मैं समझता हूँ कि आपने भगवान् महावीर की वाणी को, उस भगवान् महावीर की आत्मा को, जिसके कि आप उपासक हैं, ठीक नहीं समझा है ।

आप आत्मा की पूजा करते हैं या जड़ शरीर की ? एक तरफ तो कहते हो कि हम चैतन्य उपासक हैं, लेकिन जब तुम्हारे जीवन के सामने, तुम्हारे मार्ग में ये प्रश्न आकर खड़े होते हैं तो आप शरीर की पूजा करने लग जाते हैं । इधर-उधर के प्रश्नों में अटक जाते हैं । उस रूप में आप आत्मा की पूजा करते हैं या शरीर की ? तो आपका वह सिद्धान्त कहाँ लुप्त हो जाता है ?

नारी को, उसके रूप रंग को तोलना, उसका अपमान करना है । अगर तोलना है तो उसके प्रेम को तोलो, उसकी दया को तोलो, उसकी क्षमा को तोलो, उसकी धार्मिक वृत्तियों को तोलो, उसके सहज स्नेह को तोलो और तोलो उसकी तितिक्षा को, उसके अन्दर में रही हुई सर्वश्रेष्ठ शक्ति को तोलो । भारतीय नारी की क्षमा, दया, सरलता और वैराग्य, त्याग, तपस्या का पलड़ा सदैव ऊँचा रहेगा, अन्य के मुकाबले में ।

उन्हीं भारतीय आत्माओं की कथाएँ आपके सामने चल रहीं हैं और आप गद्-गद् भाव से सुन रहे हैं । तो आप देख रहे हैं कि काली रानी, महाकाली रानी, भारतवर्ष के सम्राट् राजा श्रेणिक की राजरानियाँ थीं । कितना ऐश्वर्य उनके चरणों में लुढ़का होगा । एक दिन संसार का समस्त सुख, आनन्द का सारा सागर और वैभव उनके पास था वह जीवन, जिसे हम कह सकते हैं, अलंकार की भाषा में कि वे मखमल के फर्श पर चलने पर भी पैरों में जलन अनुभव करती थीं और वे राजरानियाँ एक बार फिर उस जीवन को छोड़ कर निकल गईं । वे ऐश्वर्य छोड़ कर सड़कों पर चलने लगीं । हजारों, लाखों, और करोड़ों पर शासन करने वाली, साम्राज्य के सुखों का उपभोग करने वाली वे रानियाँ; जब भगवान् महावीर की वाणी का उन्हें स्पर्श हुआ, संसार का वह जादूगर जब अपनी अमर बाँसुरी बजाता हुआ राजगृह में आया और उसका समाचार सुना तो संसार के ऐश्वर्य में उलझी हुई, वैभव के पिंजड़े में बन्द रहने वाली वे पक्षिणियाँ बन्धन तोड़ कर निकल गईं । वह वीर पुरुष भारतवर्ष के एक सिरे से दूसरे सिरे तक, इधर से उधर, जंगलों, पहाड़ों, नदियों, नालों और घर-घर में अहिंसा, सत्य, प्रेम, दया, करुणा, त्याग, तपस्या का सन्देश सुनाता रहा और आज भी आप उसके उपदेश को श्रद्धा के साथ सुन रहे हैं ।

जैन परम्परा के इतिहास में काली, महाकाली आदि दस महासतियों ने त्याग और तपस्या का जो महान् आदर्श संसार के सामने रखा है, वह अपने आप में महान् एवं अद्भुत है । राज प्रासादों में और सर्वविध सुविधाओं के साथ रहने वाली महारानियाँ जब त्याग और तपस्या के पथ पर चल पड़ीं तो उन्होंने अपने पुरातन भोगवाद की ओर मुड़कर जरा भी नहीं देखा । अपने लक्ष्य की ओर निरन्तर बढ़तीं रहीं । न किसी की निन्दा सुनी और न किसी की प्रशंसा । निन्दा उन्हें लक्ष्य से रोक नहीं सकी और प्रशंसा उनके मन में उनकी साधना का अहंकार नहीं जगा सकी । उस आदर्श त्याग और तपस्या के बल पर ही आज हजारों वर्षों के व्यतीत हो जाने पर भी काली, महाकाली का जीवन भारत की कोटि-कोटि जनता के लिए अनुकरणीय बन सका है । नारी जीवन को त्याग और तपस्या की इतनी बुलन्दी पर ले जाने का श्रेय भगवान् महावीर के शासन में संयम की साधना करने वाली इन महारानियों को ही दिया जा सकता है ।

ॐ

मार्ग और मंजिल

कोई भी साधक जो साधना के मार्ग पर कदम बढ़ाए चल रहा है, वह अपनी मंजिल के बारे में जानना चाहता है कि उसकी मंजिल कहाँ है ? उसकी साधना का लक्ष्य क्या है ? वह जो चल रहा है तो उसके चलने के पीछे प्रेरणाएँ क्या हैं ! भावनाएँ क्या हैं । कौन से आदर्श उसे अपनी ओर खींच रहे हैं । मैं समझता हूँ कि ये प्रश्न कुछ गहरे हैं, इन पर गहराई से विचार करना चाहिए । जब तक हमारी दृष्टि आत्मा के दर्शन नहीं करके बाहर ही बाहर घूमती रहेगी, इधर-उधर दौड़ती रहेगी, तब तक इन प्रश्नों का समाधान नहीं पा सकेगी ।

जिनत्व का दर्शन

जैन दर्शन और जैन साधना अपने अन्दर में ही डूबना चाहती है, वह निज में ही 'जिन' को देखती है । 'जिनत्व' के दर्शन करती है । वह आत्मा में परमात्मा की झांकी देखती है । और अपने निश्चय का दर्शन भीतर ही कर लेती है । साधना की प्रेरणाएँ और भावनाएँ अपने अन्दर से ही छलक आती हैं । एक शब्द में जैन धर्म की साधना जीवन से भागने की नहीं, जीवन को बदलने की साधना है । वर्तमान जीवन जो सुख-दुःख, आधि-व्याधि से घिरा है, उस जीवन में सुख और महाप्रकाश के दर्शन कराने की यह साधना है । प्रकाश और अमरत्व की ओर लक्ष्य बाँधे बैठने वाला साधक, कभी-कभी आनन्द की हिलोरों में आकर गा उठता है -

असतो मा सद्गमय

तमसो मा ज्योतिर्गमय

मृत्योर्मा अमृतं गमय

मुझे असत् से सत् की ओर ले चलो, अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलो, और मृत्यु से अमरत्व की ओर ले चलो ।

भारत के सभी आस्तिक दर्शनों के समक्ष परमात्मा की खोज दूसरे शब्दों में परमआनंद की खोज करना प्रमुख लक्ष्य रहा है । कुछ दर्शन ईश्वर से साक्षात् करने तक ही चले, और उसके बाद वे कहीं गहरे

अन्धकार की ओर मुड़ गए । वहाँ भगवद् दर्शन से ही एक प्रकार की संतृप्ति की भावना बना ली गई । किन्तु जैन दर्शन इतने मात्र से कभी प्रसन्न होने वाला नहीं है । वह कहता है—भगवान को खोजते-खोजते हम कितने जन्मों तक फिरेंगे, जब कि हमारी आत्मा में भी वही शक्ति विद्यमान है । हम स्वयं भी भगवान बन सकते हैं । ईश्वरत्व के सिंहासन पर बैठ सकते हैं ।

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि जैन दर्शन अनीश्वरवादी दर्शन है । बात कुछ हद तक तो ठीक है, जैन दर्शन उस ईश्वर में विश्वास नहीं करता जो विश्व का कर्ता-धर्ता हो, जो समस्त सृष्टि को अपने इशारे पर कठपुतली की तरह नचाता हो । वह उस ईश्वर की सत्ता को कभी स्वीकार नहीं करता, जिसके समक्ष हम सब मिट्टी के डेले के समान हों, हमारा कोई भी संकल्प और कोई भी व्यक्तित्व नहीं हो । वह यह भी नहीं मानता कि स्वर्ग और मोक्ष हमें उस परम सत्ता से भीख माँगने पर मिलेंगे, जिसके लिए उस सत्ता को प्रसन्न करने की आवश्यकता हो । जैन दर्शन भीख के रूप में स्वर्ग के वैभव और मोक्ष के आनन्द को भी माँगने से इन्कार करता है, उसका पुरुषार्थ इसमें लज्जित होता है । वह अपने भाग्य का स्वयं विधाता है स्वयं की आत्मा में ही अनन्त शक्तियों का दर्शन करता है । उसका यह विश्वास अभिमान नहीं किन्तु आत्म-गौरव की भावना जगाता है । दीनता को मिटाकर तेजस्विता बढ़ाता है ।

बालकों की संस्कृति

एक बार किसी विद्वान से जैन एवं अन्य संस्कृति के सम्बन्ध में चर्चाएँ चलीं । मैं स्वयं किसी को ऊँचा-नीचा नहीं मानता, शंकर, कपिल, गौतम और कणाद आदि का मैं ऋणी हूँ । उनके विचारों से मुझे बहुत कुछ श्रिला है, किन्तु उस विद्वान ने बताया कि भारतवर्ष में दो प्रकार की संस्कृतियाँ चल रही हैं । एक संस्कृति बालकों की संस्कृति है, बालक जब घर से निकल भागता है, धूल और कीचड़ में अपने को गंदा कर लेता है तो स्वयं तो उसे साफ कर नहीं सकता, तब माँ की ओर दौड़ा आता है, माँ उसे डाँटती है, धमकियाँ भी देती है और कभी-कभी दो थप्पड़ भी लगा देती है, कि अभी-अभी तो तुझे नये साफ-सुथरे कपड़े पहनाए थे और अभी गंदे कर दिए । माँ बच्चे को आगे से ऐसा करने के लिए डांट-डपट भी दिखाती है और सफाई भी करती है । अतः एक संस्कृति

(या विश्वास) इस प्रकार की है कि भगवान ही हमें मन के विकारों एवं पापों से दूर करेंगे । हम तो बालक की तरह अज्ञानी हैं, विकारों के कीचड़ में फँस जाते हैं । किन्तु शुद्ध एवं पवित्र होना हमारे हाथ की बात नहीं है, भगवान जब दया करके बालकों को पवित्र बनाएगा, तभी हम शुद्ध हो सकते हैं ।

दूसरी एक संस्कृति है—नव जवानों की । जिस प्रकार एक युवक बहुत ही सावधानीपूर्वक रहता है । अपने जीवन के उत्तरदायित्वों में भी हाथ बँटाता है । बच्चा जहाँ अपने शरीर व वस्त्रों को जल्दी गंदा कर लेता है, और फिर सफाई के लिए माता को ओर ताकता है, वहाँ नवयुवक जल्दी से अपने को गन्दा भी नहीं होने देता, अपने होश-हवास सँभाले रखता है और यदि गन्दा हो भी जाए तो सफाई के लिए माँ-बाप या किसी अन्य के सामने जाकर नहीं रोता, किन्तु स्वयं ही अपने को शुद्ध एवं पवित्र मानकर खड़ा कर लेता है । इस प्रकार उस विद्वान ने बताया कि जैन दर्शन व संस्कृति नवयुवकों का दर्शन और संस्कृति है वह स्वयं अपने पर ही उत्तरदायित्वों का बोझ लेता है और उन्हें निबाह लेता है ।

सच्चा सूर्यमुखी

जिस साधक में सच्ची लगन होती है, अहिंसा-सत्य आदि के पथ पर काँटों और खाइयों की परवाह किए बिना अडिग भाव और जीवट के साथ चलता रहता है वह आखिर अपने लक्ष्य की ओर पहुँच ही जाता है । भगवान को सामने रखकर वह उससे प्रेरणा ग्रहण करता है और उसके पद चिन्हों के प्रकाश में बढ़ते हुए अपनी मंजिल का दर्शन करता है । उसका लक्ष्य, और गति सूर्यमुखी के समान होती है । सच्चा सूर्यमुखी फूल वही है, जिसका मुख सूर्य की गति के साथ-साथ घूमता रहेगा, जिधर सूर्य की दिशा होगी उधर ही उसका मुख होगा । सूर्य के प्रकाश की ओर निरन्तर उन्मुख रहता है । इसी प्रकार सच्चा साधक भगवान की ओर उन्मुख हुए उसके प्रकाश में निरन्तर बढ़ता रहता है । उसके सामने सिर्फ एक ही लक्ष्य, एक ही प्रकाश होता है । शास्त्रों में कहा गया है कि साधक अपनी साधना पर साँप की तरह एकाग्र दृष्टि रहे ।

अहीव एगंत दिट्ठिए

—भ० महावीर

और उसकी वही एक-निष्ठता उसके अन्दर खोए हुए ईश्वरत्व को

जगा देती है । वह भगवान से कोई भिक्षा नहीं मांगता, किन्तु उसके प्रकाश से अपने ही खजाने को ढूँढ़ता है, अपने आपको पाता है ।

अपनी गांठ खोल

राजस्थान के एक सन्त कवि ने कहा है—साधक ! तुम स्वयं दरिद्र और कंगाल नहीं हो, तुम क्यों किसी के समक्ष गिड़गिड़ाते हो, अपनी गठरी खोल कर देखो ! तुम्हारे पास कितने बेश कीमती जौहर छिपे हैं -

भीखा भूखा कोई नहीं सबकी गठरी लाल ।

गाँठ खोल जानत नहीं तासे भयो कंगाल ॥

संसार की अनन्त आत्माओं में कोई भी दरिद्र और पददलित नहीं है, सबकी आत्मा रूपी गठरी में परमात्मतत्व का ऐश्वर्य भरा पड़ा है, किन्तु वह अपनी उस गठरी को खोल नहीं पाने के कारण अपने को दरिद्र और कंगाल मान रहा है और संसार के सामने हाथ फैलाए गिड़गिड़ा रहा है । यही बात एक-दूसरे ऋषि ने कही है -

पास ही रे हीरों की खान, खोजता कहाँ उसे नादान !

कबीर जैसा संत कवि तो इस विषय पर बहुत-बहुत कह गया है :

तेरा साईं तुझ में ज्यों पुहुपन में बास ।

कस्तूरी का मृग ज्यों फिर-फिर ढूँढ़े घास ॥

अर्थात् तेरा ईश्वर कहीं बाहर नहीं है, तेरे ही अन्दर या तू ही है, जब तक अज्ञान का पर्दा पड़ा है तब तक तू दरिद्र बना है, और उसे कोई दूसरी शक्ति समझकर बाहर खोज रहा है । किन्तु जिस दिन यह अज्ञान का पर्दा हट जाएगा उस दिन तेरे अन्दर की अनन्त शक्तियाँ जग उठेंगी और तू परम मस्ती से 'सोऽहम् सोऽहम्' पुकार उठेगा ।

मार्ग कहाँ है

अब सवाल यह आता है कि ईश्वरत्व को जगाने का उपाय क्या है । अन्दर में कैद ईश्वर कैसे मुक्त होकर हमारे सामने आ सकता है ? जैन दृष्टि इस सवाल का जवाब देती है कि तुम अपना मार्ग निश्चित करो, जीवन का लक्ष्य स्पष्ट करो, उस लक्ष्य के बारे में अपने मन को दृढ़ करके चल पड़ो । जैन परिभाषा में ईश्वर प्राप्ति या ईश्वरत्व को जगाने का अर्थ यही

होता है कि स्वयं ईश्वर बन जाना, और ईश्वर बन जाने का अर्थ होता है, समस्त वासनाओं से मुक्ति ।

हमारी साधना का लक्ष्य यही है कि हम धीरे-धीरे मन पर नियन्त्रण करने का अभ्यास करें । इच्छाएँ अनन्त हैं । शास्त्र की भाषा में—

इच्छा ह्य आगास-समा अणंतिया

और वे इच्छाएँ बड़ी शक्तिशाली होती हैं । इच्छाओं की एक ठोकर ही मनुष्य को अनन्त जन्म तक भटका सकती है । अतः इच्छा पर नियन्त्रण करने का मतलब होगा, शुद्ध मनोबल का उदय । जब तक मनोबल जागृत नहीं होगा, तब तक इच्छाएँ कचोटती रहेंगी । भटकाती रहेंगी । कोई भी सुन्दर वस्तु हमारे सामने आएगी तो मन चंचल हो उठेगा । अच्छा भोजन सामने आया और जीभ लपलपा उठी, तो मन पर नियन्त्रण कहाँ हुआ ? अभी पर्युषण पर्व चल रहा है, तपस्या के प्रवाह में कोई भी देखा-देखी नहीं करे । तपस्या अच्छी है, किन्तु उसका उद्देश्य सामने होना चाहिए, खाने का त्याग मुँह से ही नहीं बल्कि मन से खाने की भावना भी निकल जानी चाहिए । हमें कोई शरीर इन्द्रियाँ और इस पिण्ड से लड़ने की जरूरत नहीं है बल्कि इस विचार से आगे बढ़ना है कि हम भूख के गुलाम नहीं हैं स्वामी हैं । इच्छाएँ जो हमेशा सताती रहती है, उन पर इतना नियन्त्रण करना है कि जरूरत पड़ने पर स्वयं भूखे रहकर भी दूसरों को भोजन कराने की क्षमता हमारे में हो । हमारी आत्मा में इतनी बड़ी संकल्प शक्ति हो कि तन के चाहते हुए भी मन के बिना चाहे, तन हिल भी न सके, और मन को जैसा हम मोड़ना चाहें मोड़ सकें । हमारी साधना में ये ही प्रतिक्रियाएँ रखी गई हैं । हम मन पर नियन्त्रण करने का अभ्यास करें । सिर्फ इस भौतिक देह पर ही अवलम्बित न रहें, इस शरीर के मोह पर ही न जिएँ, किन्तु जन्म की सफलता पर ध्यान रखें । यह शरीर तो कितने वर्ष टिकने का है ५०, ६० या १०० वर्षों में समाप्त होने वाला ही है, किन्तु हमारी दृष्टि सिर्फ शरीर पर ही केन्द्रित नहीं है । यदि हम शरीर के घेरे में ही बँधे रहें तो शरीर के गुलाम हो जाएँगे, सत्त्व-हीन और नास्तिक हो जाएँगे । भारतीय विचारों में आस्तिक-नास्तिक की बड़ी पेचीदा गुत्थी है । अमुक व्यक्ति अमुक ग्रन्थों और देवी देवताओं में विश्वास रखने वाला है, अतः आस्तिक है, और जो अमुक-अमुक मान्यताओं और पोथियों में विश्वास नहीं रखता वह नास्तिक है । इस

प्रकार की मान्यताओं का जाल भारतीय दिमाग को अब भी जकड़े हुए है ।

नास्तिक की शक्ति

किन्तु विचारों की कैद से निकलते हुए स्वतन्त्र चिंतकों ने कभी भी यह घोषित करने का दुस्साहस नहीं किया कि अमुक पुस्तकों और क्रिया-काण्डों पर विश्वास रखने वाला ही आस्तिक है । जो परम्पराओं और क्रिया-काण्डों के दलदल में फँसा हुआ है वह देश, काल, परिस्थिति को सोच नहीं सकता, विचार शक्ति का वहाँ अभाव रहता है, और वह सिर्फ क्रिया-काण्डों का गुलाम बन जाता है । उसकी स्थिति तो वैसी ही होती है कि जेठ असाढ़ में पहनने योग्य वस्त्र तो पूष और माघ में पहना जाय और वर्षा ऋतु में लगाने वाला छाता शीत ऋतु में लगाकर निकले । उसके पास प्राणवान् और जीवित क्रियाएँ एवं परम्पराएँ नहीं रहती हैं, वह तो सिर्फ परम्पराओं की लाश को ढोता रहता है । किन्तु सच्चा विचारक जो आत्मा की धड़कन को पहचानता है, वह परम्पराओं का गुलाम कभी नहीं होता, हाँ तो हमारे आचार्यों ने बताया कि नास्तिक वह नहीं होता है, जो अमुक ग्रन्थों में विश्वास नहीं रखता । बल्कि नास्तिक वह होता है, जो शरीर का गुलाम होता है । जिससे अनन्त भूत और भविष्य की सत्ता में विश्वास नहीं करके सिर्फ वर्तमान की स्थूल घड़ियों में ही अपने को बन्द कर लिया हो -

वर्तमान-दृष्टि-परो हि नास्तिकः

वर्तमान दृष्टि में बँधे रहने वाले को ही आचार्यों ने नास्तिक कहा है । सच्चे नास्तिक की तस्वीर यही है कि उसका जीवन के प्रति आदर्शों के प्रति कोई विश्वास या निष्ठा नहीं होती ।

साधना का दायरा

हमारी साधना का दायरा इतना छोटा नहीं है कि उसमें भूत भविष्य से आँक मिचौनी करके सिर्फ वर्तमान को ही देखा जाए । हमारा विश्वास है कि अतीत में भी हमारी सत्ता थी और भविष्य में भी रहेगी और इस दृष्टि से ही हमारी साधना का मूल्य होता है, हमने जीवन में क्या सत्कर्म किया है जो मुक्ति का सोपान बन सकता है, और वासनाओं के चक्र में फँसकर कौन-सा दुष्कर्म किया है, जिससे हमारी आत्मा का पतन

हुआ है ? यह देखना चाहिए । भगवान् महावीर ने कहा है कि परलोक के द्वार पर तुम्हारे सामने एक ही प्रश्न आता है -

किंवा दत्ता, किंवा समायरित्ता

अर्थात् क्या देकर आए हो और क्या करके आए हो ? स्वर्ग के हजारों हजार देवता और अप्सराएँ घेर कर सबसे पहले यही पूछते हैं कि तुमने जीवन में किसी को कुछ दिया या नहीं ? वहाँ यह नहीं पूछा जाता है कि शरीर की सेवा के लिए कितने रुपये खर्च किए ? कितने नौकर रहते, और कितने बैंगले व मोटर गाड़ियाँ थीं तुम्हारे धन वैभव और ऐश्वर्य कितना था ? किंतु इसके विपरीत यह पूछा जाएगा कि संसार में न्याय, नीति, अहिंसा, सत्य, करुणा आदि का तुम्हारा क्या हिसाब है ? वहाँ यह भी नहीं पूछा जाएगा कि तुमने क्या-क्या श्रेष्ठ पदार्थ खाए ? किन्तु यह पूछा जाएगा, कि दूसरों को जीवित रखने के लिए क्या अर्पण किया है । संसार की क्या सेवाएँ तुमने की हैं और कहां तक अपनी इच्छाओं का बलिदान करके विश्व का हित किया है ?

मन के महल में

भारतीय संस्कृति का यही मूल-सूत्र है कि वहाँ आत्मा को परखा जाता है । भौतिक सुख सुविधाएँ और विकास आत्मा को मूर्च्छित एवं तमसावृत कर देती हैं, जब तक उस आत्मा में त्याग, तपस्या, सेवा और सदाचार के दीपक नहीं जलाए जाते, तब तक उसमें वासना और भोग विलास की गन्दगी ही भरी रहती है, और आत्मा का वहाँ कोई मूल्यांकन नहीं किया जा सकता है । इसलिए मन के इस महल को वासनाओं की गन्दगी से मत भरो, किन्तु त्याग और सदाचार के प्रकाश से जगमगाओ ।

एक प्राचीन आख्यायिका है कि एक सेठ ने अपने पुरुषार्थ से बहुत धन कमाया, अनेक महल बनवाए । बुढ़ापे में उसके मन में इस प्रश्न पर चिन्ता उठी कि दो पुत्रों में से अपना उत्तराधिकारी किसे बनाएँगे । उसने एक दिन दोनों लड़कों को बुलाया और उनसे कहा कि यह जो महल है वह खाली पड़ा है । इसलिए मैं दुखी हूँ । अतः कौन इस महल का कोना-कोना भर कर मेरे दुख को दूर कर सकता है ?

दोनों ही पुत्रों ने इसकी पूर्ति की स्वीकृति की । सेठ ने दोनों को आठ-आठ आने दिए और कहा कि इतने से ही इस महल का कोना-कोना

भरना है, यदि इस महल को ठीक तरह से भर सके तो मेरी अन्तरात्मा को शान्ति मिल सकेगी ।

दोनों ही चल पड़े । एक उनमें से शरीर से तो ठीक और सुन्दर था, किन्तु विचारों से क्षुद्र था । वह विचारने लगा, आठ आने में सारे महल को किस प्रकार भरा जा सकता है ? कुछ समझ में नहीं आया तो सोचा बुढ़ापे में उसका बाप भी पागल हो गया है । अब उसके पागलपन को किस प्रकार दूर किया जाय ? नगरपालिका के कूड़े की गाड़ी को देखकर उसे हर्ष हुआ और उसने गाड़ी वाले को ही आठ आने देकर महल को कूड़े से भर देने की जिम्मेदारी दे दी । गाड़ी वाला मेहतर भी इसकी सनक पर हैरान था कि संगमरमर के महल को क्यों कूड़े से भरा जा रहा है, खैर ! महल भर दिया गया ।

दूसरा लड़का विचारवान् था । उसने समझ लिया कि आठ आने से समूचे महल को भरने की बात में कुछ बुद्धि का राज है । वह गया बाजार में और आठ आने के तेल दीपक और बाती लेकर महल के हर कमरे में एक-एक दिया जलाकर रख दिया सारा महल प्रकाश से जगमगा उठा । संगमरमर पर प्रकाश पड़ने से महल की आत्मा और भी कई गुनी बढ़ गई । महल का कोना-कोना प्रकाश से भर गया ।

दोनों ही पिता के इन्तजार में खड़े थे । सेठ आया तो पहले कूड़े वाले ने अपने कारनामे देखने का आग्रह किया । प्रकाश वाला शांत भाव से खड़ा रहा । बूढ़े बाप ने जब महल को देखा तो बड़े बेटे की बुद्धि पर सिर पीट लिया और इतनी दुर्गन्ध थी कि नाक फट रही थी । एक क्षण भी टिकना मुश्किल हो गया । जब उसने लड़के से पूछा कि यह क्या किया, तो उसने उत्तर में बताया कि आठ आने में समूचा महल कूड़े से नहीं तो हीरों से भरा जा सकता था ।

जब वह दूसरे लड़के के महल में गया, तो महल को दीपक के प्रकाश से जगमगाता देखकर आनन्दित हो गया । उसने देखा कि वहाँ साक्षात् स्वर्ग उतर आया है, और आलोक अठखेलियाँ कर रहा है । उसने पहले लड़के से कहा—देखो यह महल का कोई भी भाग खाली तो नहीं है ? ऐसा कोई भी कोना या जगह तो नहीं है जहाँ प्रकाश नहीं है ? पहला लड़का मारे शर्म और ईर्ष्या के धरती कुरेदने लग गया । सेठ ने हर्ष से उस लड़के को चूम लिया, कहा और आज मेरी अशान्ति

दूर हुई है, मेरी आत्मा को संतोष मिला है । वही मेरा सच्चा उत्तराधिकारी है ।

भारत के हर गुरु आचार्य महापुरुष राम, कृष्ण, महावीर और बुद्ध ने अपने शिष्यों, पुत्र एवं पुत्रियों को यही सन्देश दिया कि अपने इस मन मंदिर को खाली मत रखो, इसका हर कोना जो रिक्त पड़ा है, भर दो । किन्तु कुछ तो ऐसे हैं, जो उसे घृणा, द्वेष, ईर्ष्या आदि कूड़े से भर देते हैं । उनमें सास और बहू, बूढ़े और बुढ़िया, जाति और धर्म की आलोचना निन्दा, आदि के धिनोने कीड़े पलते हैं । कुछ उसमें क्रोध, मान, माया एवं लोभ दुर्व्यसन आदि के दुर्गन्धमय कूड़ों से उस मन मन्दिर को भर देते हैं । पिता की, महापुरुषों और गुरुओं की आज्ञा का पालन तो कर रहे हैं, किन्तु बड़े ही विचित्र तरीके से । उन्हें और कोई सद्गुण सत्य, अहिंसा, प्रेम, सेवा आदि का प्रकाश सूझता ही नहीं, दिन रात उनके सामने वही कूड़ा पड़ा रहता है, और वही कूड़ा अपने सुन्दर मन मन्दिर में जाकर उसको बंद कर लेते हैं ।

किन्तु पुत्र ऐसे भी होते हैं जो पिता की गुरु की आज्ञा का सुन्दर ढंग से पालन करते हैं । अपने मन मन्दिर में प्रेम, दया, सादाचार, सद्भाव, स्नेह, परोपकार आदि के दीपक जलाकर उसका कोना-कोना प्रकाशमय बना देते हैं ।

पर्युषण पर्व का त्यौहार हमें यही सिखाता है कि तुम अपने रीते मन मन्दिर को तो भरों पर सावधान ! कहीं उसमें कूड़ा भरकर गन्दगी मत फैला देना, उसमें ईर्ष्या, लोभ व मात्सर्य के कीड़े बिलबिलाने लग गए, तो समूचा मन का महल ही गन्दा और जर्जर हो जायगा । तुम उस विवेकी पुत्र की तरह मन के महल में सद्भाव और परोपकार के दीपक जलाओ । यही पर्युषण-पर्व की सफलता है । और तुम्हारे जीवन की मंजिल है । इस मार्ग से ही तुम जीवन के अन्तिम ध्येय तक पहुँचकर अपनी लक्ष्य सिद्धि पा सकते हो । एक दृष्टि से तुम्हारा मार्ग भी यही है और मंजिल भी यही है ।

ॐ

पर्वों का सन्देश

मानव-जाति के इतिहास पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि आदि काल के अकर्म-युग से मनुष्य ने जब कर्म-युग में प्रवेश किया, तब उसके जीवन का लक्ष्य अपने पुरुषार्थ के आधार पर निर्धारित हुआ। जैन परम्परा और इतिहास के अनुसार उस मोड़ के पहले का युग एक ऐसा युग था, जब मनुष्य अपना प्रकृति के सहारे पर चला रहा था, उसे अपने आप पर भरोसा नहीं था, या यों कहें कि उसे अपने पुरुषार्थ पर विश्वास नहीं हुआ। उसकी प्रत्येक आवश्यकता प्रकृति के हाथों पूरी होती थी, भूख प्यास की समस्या से लेकर बड़ी से बड़ी समस्याएँ प्रकृति के द्वारा हल होती थीं, इसीलिए वह प्रकृति की उपासना करने लगा। कल्प वृक्षों के निकट जाकर उनकी आरजू, मिन्नतें करता और उनसे प्राप्त सामग्रियों के आधार पर अपना जीवन निर्वाह करता। इस प्रकार आदि युग का मानव प्रकृति के हाथों में खेला था। उत्तर कालीन ग्रन्थों से पता चलता है कि उस युग के मानव की आवश्यकताएँ बहुत ही कम थीं। उस समय भी पति-पत्नी होते थे, पर उनमें परस्पर एक-दूसरे का सहारा पाने की आकांक्षा, उत्तरदायित्व की भावना नहीं थी। सभी अपनी अभिलाषाओं और अपनी आवश्यकताओं के सीमित दायरे में बँधे थे। एक प्रकार से वह युग उत्तरदायित्व-हीन एवं सामाजिक तथा पारिवारिक सीमाओं से मुक्त एक स्वतन्त्र जीवन था, कल्पवृक्षों के द्वारा तत्कालीन आवश्यकताओं की पूर्ति होती थी इसलिए किसी को भी उत्पादन श्रम एवं जिम्मेदारी की भावना से बांधा नहीं गया था, सभी अपने में मस्त थे, लीन थे।

पर्वों की परम्परा

अकर्म-भूमि की उस अवस्था में मनुष्य सागरों के सागर चलता गया। मानव की पीढ़ियाँ दर पीढ़ियाँ बढ़ती गईं। किन्तु फिर भी उस जाति का विकास नहीं हुआ। उनके जीवन का क्रम विकसित नहीं हुआ, उनके जीवन में संघर्ष कम थे, लालसा और आकांक्षाएँ कम थीं। जीवन में भद्रता, सरलता का वातावरण था। कषाय की प्रकृतियाँ भी मंद थी, यद्यपि कषाय भाव की यह मन्दता ज्ञानपूर्वक नहीं थी, उनका स्वभाव, प्रकृति ही शान्त और शीतल थी। सुखी होते हुए भी उनके जीवन में ज्ञान व विवेक की कमी थी, वे सिर्फ शरीर के क्षुद्र घेरे में बंद थे।

संयम, साधना व आदर्श का विवेक उस जीवन में नहीं था । यही कारण था कि उस काल में एक भी आत्मा मोक्ष में नहीं गई और कर्म तथा वासना के बन्धन को तोड़ नहीं सकी । उनकी दृष्टि केवल 'मैं' तक ही सीमित थी । शरीर के अन्दर में शरीर से परे क्या है, मालूम होता है, इस सम्बन्ध में उन्होंने कभी सोचा ही नहीं, और यदि किसी ने सोचा भी तो आगे कदम नहीं बढ़ा सका । जब कभी उस भूमिका का अध्ययन करता हूँ तो मन में ऐसा भाव आता कि मैं उस जीवन से बचा रहूँ । जिस जीवन में ज्ञान का कोई प्रकाश न हो, सत्यता का कोई मार्ग न हो, भला उस जीवन में मनुष्य भटकने के सिवाय और क्या कर सकता है । उस जीवन में यदि पतन नहीं है, तो उत्थान भी तो नहीं है । ऐसी निर्माल्य दशा में, इस त्रिशंकु जीवन का कोई भी महत्त्व नहीं है । हाँ, तो ऐसी ही क्रान्ति और प्रगति विहान सामान्य दशा में वह अकर्म-युग चल रहा था, उसे जैन भाषा में पौराणिक युग कहते हैं ।

नया युग : नया संदेश

धीरे-धीरे कल्प वृक्षों का युग समाप्त हुआ । इधर प्राकृतिक उत्पादन क्षीण पड़ने लगे, उधर उपभोक्ताओं की संख्या बढ़ने लगी । ऐसी परिस्थितियों में प्रायः विग्रह, वैर और विरोध पैदा हो ही जाते हैं । जब कभी उत्पादन कम होता है और उपभोक्ताओं की संख्या अधिक होती है, तब परस्पर संघर्षों का होना अवश्यंभावी है । ऐसी स्थिति में स्वाभाविक तौर पर उस युग में भी यही हुआ कि पारस्परिक प्रेम व स्नेह टूटकर घृणा, द्वेष, कलह और द्वन्द्व बढ़ने लगे, संघर्ष की चिनगारियाँ उछलने लग गईं । समाज में सब ओर कलंक, घृणा, द्वन्द्व का सर्जन होने लगा ।

मानव जाति की उन संकट की घड़ियों में, संक्रमण शील परिस्थितियों में भगवान ऋषभदेव ने मानवीय भावना का उद्बोधन किया, उन्होंने मनुष्य जाति को समझाया—अब प्रकृति के भरोसे रहने से काम चलने का नहीं है । हमारे हाथों का उपयोग सिर्फ खाने के लिए ही नहीं किन्तु कमाने उपार्जन करने के लिए भी होना चाहिए । उन्होंने कहा—युग बदल गया है, वह अकर्म-युग का मानव अब कर्म-युग (पुरुषार्थ के युग) में प्रविष्ट हो रहा है । इतने दिन पुरुष सिर्फ भोक्ता बना हुआ था । प्रकृति के कर्तव्य पर उसका जीवन टिका था । किन्तु अब यह वैषम्य चलने का नहीं है । अब कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों ही पुरुष में हैं । पुरुष ही कर्ता है और पुरुष ही भोक्ता है । तुम्हारी भुजाओं में बल है । तुम पुरुषार्थ से आनन्द का उपभोग करो । भगवान आदिनाथ के

कर्म-युग का यह उद्घोष अब भी वैदिक वाङ्मय में प्रतिध्वनित होता दिखाई पड़ता है :

अयं मे हस्तो भगवान् अयं मे भगवत्तरः ।

कृतं मे दक्षिणे हस्ते/जयो मे सब्ये आहितः ।

मेरा हाथ ही भगवान है, भगवान से भी बढ़कर है ।

दाएँ हाथ में कर्तव्य है, पुरुषार्थ है तो बाएँ हाथ में विजय है, सफलता है ।

हाँ, तो पुरुषार्थ जागरण की उस वेला में भगवान ऋषभदेव ने युग को नया मोड़ दिया । मानव जाति को जो धीरे-धीरे अभावग्रस्त हो रही थी । पराधीनता के फंदे में फँसी तड़फने लगी थी, उसे उत्पादन का मंत्र दिया, श्रम और स्वतन्त्रता का मार्ग दिखाया । मानव समाज में फिर से उल्लास और आनन्द बरसने लग गया । सुख चैन की मुरली बजने लगी ।

मनुष्य के जीवन में जब ऐसी सुख की घड़ियाँ आती हैं, तो आनन्द की स्रोतस्विनी बहने लगती है, वह नाचने लगता है । सब के साथ बैठकर आनंद और उत्सव मनाता है और बस वे ही घड़ियाँ वे ही तिथियाँ जीवन में पर्व का रूप लेती हैं और इतिहास की महत्वपूर्ण तिथियाँ बन जाती है । इस प्रकार उस नये युग का नया संदेश जनजीवन में नई चेतना फूँककर उल्लास का त्यौहार बन गया । और वही परम्परा आज भी हमारे जीवन में आनंद उल्लास की घड़ियों को त्यौहार के रूप में प्रकट करके सबको सम्मिलित आनंद का अवसर देती हैं ।

भगवान ऋषभदेव के द्वारा कर्मभूमि की स्थापना के बाद मनुष्य पुरुषार्थ के युग में आया और उसने अपने उत्तरदायित्वों को समझा । परिणाम यह हुआ कि कि सुख समृद्धि और उल्लास के झूले पर झूलने लगा, और जब सुख समृद्धि एवं उल्लास आया तो फिर पूर्व में से निकलने लगे । हर घर, हर परिवार त्यौहार मनाने लगा, और फिर सामाजिक जीवन में पर्वों त्यौहारों की लड़ियाँ बन गई । समाज और राष्ट्र में त्यौहारों की श्रृंखला बनी । जीवन का क्रम जो अब तक व्यक्तिवादी दृष्टि पर घूम रहा था, अब व्यक्ति से समष्टि की ओर घूमा । व्यक्ति ने सामूहिक रूप धारण किया और एक की खुशी, एक का आनंद, सभी की खुशी और समाज का आनंद बन गया । इस प्रकार सामाजिक भावना की भूमिका पर चले हुए पर्व, सामाजिक चेतना के अग्रदूत सिद्ध हुए । नई स्फूर्ति, नया आनंद और नया जीवन समाज की नसों में दौड़ने लगा ।

प्राचीन जैन, बौद्ध एवं वैदिक ग्रन्थों के अनुशीलन से ऐसा लगता है कि उस समय में पर्व त्यौहार जीवन के आवश्यक अंग बन गए थे । एक भी दिन ऐसा नहीं जाता, जब कि समाज में पर्व त्यौहार व उत्सव का कोई आयोजन नहीं हो । इतना ही नहीं किन्तु एक-एक दिन और तिथियों में दस-दस और उससे भी बहुत अधिक पर्वों का सिलसिला चलता रहता था । सामाजिक जीवन में बच्चों के पर्व अलग, औरतों के पर्व अलग और वृद्धों के पर्व अलग । इस दृष्टि से भारत का मन-जीवन बहुत ही उन्नत और आनन्दित रहा ।

पर्वों का संदेश

हमारे पर्वों की वह लड़ी, कुछ भिन्न-भिन्न हुई परम्परा के रूप में आज भी हमें महान अतीत की याद दिलाती है । हमारा अतीत उज्वल रहा है, इसमें कोई संदेह नहीं, किन्तु वर्तमान कैसा गुजर रहा है यह थोड़ा विचारणीय है । पर्व के पीछे सिर्फ अतीत की याद को ताजा करना ही हमारा लक्ष्य नहीं है, किन्तु उसके प्रकाश में वर्तमान को देखना भी आवश्यक है । अतीत का वह गौरव जहाँ एक ओर हमारे जीवन का एक सुनहला पृष्ठ खोलता है, वहाँ दूसरी ओर नया पृष्ठ लिखने का भी संदेश देता है । इसलिए पर्वों की खुशी के साथ-साथ हमें अपने नव-जीवन के अध्याय को भी खोलना चाहिए और उसका अवलोकन करके अतीत को वर्तमान के साथ मिलाना चाहिए ।

जीने की कला

यद्यपि जैन धर्म की परम्परा निवृत्ति-मूलक रही है । उसके अनुसार जीवन का लक्ष्य भोग नहीं, त्याग है । बन्धन नहीं, मोक्ष है । किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह सिर्फ परलोक की ही बात करता है । इस जीवन से उसने आँखे मूंद ली हों । हम इस संसार में रहते हैं, तो हमें इस संसार के ढंग से ही जीना होगा, हमें जीने की कला सीखनी होगी । जब तक जीने की कला नहीं आती है, तब तक जीना वास्तव में आनन्ददायक नहीं होता । जैन परम्परा, जैन पर्व, एवं जैन विचार हमें जीने की कला सिखाते हैं, हमारे जीवन को सुख और शान्तिमय बनाने का मंत्र देते हैं । जैन धर्म का लक्ष्य मुक्ति है, किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि उसके पीछे इस जीवन को बर्बाद कर दिया जाए । वह नहीं कहता है कि मुक्ति के लिए, शरीर, परिवार व समाज के बन्धनों को तोड़ डाले, कोई किसी को अपना नहीं माने, कोई पुत्र अपने पिता को पिता न माने पति-पत्नी परस्पर कुछ

भी स्नेह का नाता न रखें, बहन-भाई आपस में एक-दूसरे से निरपेक्ष होकर चलें—जीवन की यात्रा में चलते हुए, परिवार, समाज व राष्ट्र के प्रति अपने उत्तरदायित्वों का भार उतार फेंके—इस प्रकार तो जीवन में एक भयंकर तूफान आ जायगा, भारी अव्यवस्था और अशांति बढ़ जायगी, मुक्ति की अपेक्षा, स्वर्ग से भी गिरकर नरक में चले जाएँगे । जैन धर्म का सन्देश है—जहाँ भी रहें अपने स्वरूप को समझकर रहें, शारीरिक, पारिवारिक एवं सामाजिक सम्बन्धों के बीच बँधे हुए भी उनमें कैद न हों । परस्पर एक-दूसरे की आत्मा को समझ कर चलें, शारीरिक सम्बन्ध को महत्व न देकर आत्मिक पवित्रता का ध्यान रखें । जीवन में सब कुछ करना पड़ता है, किन्तु आसक्त नहीं, अपितु सिर्फ एक कर्तव्य के नाते किया जाय । शरीर व इन्द्रियाओं के बीच में रहकर भी उसके दास नहीं, किन्तु स्वामी बन कर रहें । भोग में भी योग को न भूल जाएँ । महलों में रहकर भी उनके दास बनकर नहीं, किन्तु उन्हें अपना दास बनाकर रखें । ऊँचे सिंहासन पर, या ऐश्वर्य के विशाल ढेर पर बैठकर उसके गुलाम न बनें, किन्तु उसे अपना गुलाम बनाए रखें, जब धन स्वामी बन जाता है, तभी मनुष्य को भटकाता है । धन और पद को मूर्तिमान शैतान हैं । जब तक ये इन्सान के पैरों में दबे रहते हैं, तब तक तो ठीक हैं यदि ये सर पर सवार हो गए तो इन्सान को भी शैतान बना देते हैं ।

समाज का ऋण

जैन धर्म में भरत जैसे चक्रवर्ती भी रहे, किन्तु वे उस विशाल साम्राज्य के बन्धन में नहीं फँसे । जब तक इच्छा हुई उपभोग किया और जब चाहा तब छोड़कर योग स्वीकार कर लिया । उनका ऐश्वर्य, बल और बुद्धि, समाज राष्ट्र के कल्याण के लिए ही होता था । उन लोगों ने यही विचार दिया कि—जब हम इस जगत में आए तो कुछ लेकर नहीं आए, जन्म के समय तो मक्खी मच्छर को शरीर से दूर हटाने की भी शक्ति नहीं थी । शास्त्रों में उस स्थिति को 'उत्तान-शायी' कहा गया है । जब उसमें करवट बदलने की भी क्षमता नहीं रही, इतना अशक्त और असहाय प्राणी बाद में इतना बड़ा शक्तिशाली बना, इसका आधार भी कुछ है और वह यह है कि अपने शुभ कर्मों का संचय एवं उसके आधार पर प्राप्त होने वाला माता, पिता, परिवार व समाज का प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष सहयोग ।

यह निश्चित है कि जिन पुरुषार्थों ने हमें समाज की इतनी ऊँचाइयों

पर लाकर खड़ा किया है, उनके प्रति हमारा बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है । समाज का ऋण प्रत्येक मनुष्य के सिर पर है, वह लेते समय यदि सहर्ष लेता है, तो उसको चुकाते समय कुलबुलाता क्यों है ? हमारी यह सब सम्पत्ति, सब ऐश्वर्य और ये सब सुख सामग्रियाँ समाज की ही देन हैं । यदि मनुष्य लेता ही लेता जाए, वापिस दे नहीं तो वह समाज के अंग में विकार पैदा कर देता है । वह इस धन ऐश्वर्य का दास बनकर क्यों रहे, उसका स्वामी बनकर उपयोग करे, दो हाथ उसे मिले हैं, एक हाथ से स्वयं खाए तो दूसरे हाथ से औरों को खिलाए । वेद में एक मन्त्र आता है—

शत-हस्तं समाहर सहस्र-हस्तं संकिर

सौ हाथ से इकट्ठा करो तो हजार हाथ से बांटो । संग्रह करने वाला यदि विसर्जन नहीं करे तो उसकी क्या दशा होती है । पेट में यदि अन्न आदि के इकट्ठे होते जाएँ, न उनका रस बने, न मल का विसर्जन हो तो क्या आदमी जी सकता है ? मनुष्य समाज से कमाता है तो समाज की भलाई के लिए देना भी आवश्यक होता है । खुद खाता है तो दूसरों को खिलाना भी जरूरी है । हमारे उदाहरण बताते हैं कि अकेले खाने वाला राक्षस होता है और दूसरों को खिलाने वाला देवता ।

एक उदाहरण है कि एक बार देवताओं को भगवान विष्णु की ओर से प्रीतिभोज दिया गया । सभी अतिथियों को दो पंक्तिओं में आमने-सामने बिठलाया गया, भोजन परोसा गया और सभी से खाना शुरू करने का निवेदन किया गया । विष्णु ने कुछ ऐसी माया रची की सभी देवताओं के हाथ सीधे रह गए, किसी का मुड़ता तक नहीं । अब समस्या हो गई कि खाएँ तो कैसे खाएँ ? जब अच्छा भोजन परोसा हुआ सामने पड़ा हो, पेट में भूख हो और हाथ नहीं चलता हो तो ऐसी स्थिति में आदमी झुंझला जाता है । कुछ अतिथि भोंचके से देखते रह गए कि यह क्या हुआ ? आखिर बुद्धिमान देवताओं ने एक तजबीज निकाली जब देखा कि हाथ मुड़कर घूमता नहीं है, तो आमने-सामने वाले एक दूसरे को सीधा ही खिलाने लग गए । दोनों पंक्ति वालों ने परस्पर एक दूसरे को खिला दिया और अच्छी तरह से खाना खा लिया । जिन्होंने एक दूसरे को खिलाकर पेट भर लिया वे तृप्त होकर उठे, बाकी सब भूखे ही उठ खड़े हुए । विष्णु ने कहा—जिन्होंने एक दूसरे को खिलाया वे देवता हैं, और जिन्होंने किसी को नहीं खिलाया, सिर्फ स्वयं खाने की चिंता ही करते रहे वे राक्षस हैं ।

वास्तव में यह रूपक जीवन की एक ज्वलंत समस्या का हल करता

है । देव और राक्षस के विभाजन का आधार इसमें एक सामाजिक ऊँचाई पर खड़ा किया गया है जो दूसरों को खिलाता है, वह स्वयं भी भूखा नहीं रहता और दूसरी बात है कि उसका आदर्श देवत्व का आदर्श है, जबकि स्वयं ही पेट भरने, चिन्ता में पड़ने वाला स्वयं भी भूखा ही रहता है और समाज में उसका दानवीय रूप प्रकट होता है ।

पर्व की सार्थकता

हमारे पर्व जीवन के इसी महान उद्देश्य को प्रकट करते हैं । सामाजिक जीवन की आधार भूमि और उसके उज्वल आदर्श हमारे पर्वों व त्यौहारों की परम्परा में छिपे पड़े हैं । भारत के कुछ पर्व इस लोक के साथ परलोक के विश्वास पर भी चलते हैं । उनमें मानव का विराट् रूप परिलक्षित होता है । जिस प्रकार इस लोक का हमारा आदर्श है उसी प्रकार परलोक के लिए भी होना चाहिए । वैदिक या अन्य संस्कृतियों में भरने के पश्चात् पिण्ड-दान की प्रक्रिया की जाती है । इसका रूप जो भी कुछ हो, किंतु भावना व आदर्श इसमें भी बड़े ऊँचे हैं । जिस प्रकार अपने सामाजिक सहयोगियों के प्रति अर्पण की भावना रहती है, उसी प्रकार अपने पूर्वजों के प्रति एक श्रद्धा और समर्पण की भावना इसमें सन्नहित है । जैन धर्म व संस्कृति इसके धार्मिक स्वरूप में विश्वास नहीं रखती । उसका कहना है कि तुम पिण्डदान या श्राद्ध करके उन मृतात्माओं तक अपना श्राद्ध नहीं पहुँचा सकते, और न इससे पर्व मनाने की ही सार्थकता होती है कि जीवन के दोनों ओर-छोर पर उल्लास और आनन्द की उछाल आती रहे ।

इस भावना को लेकर कि परलोक के लिए भी हमें जो कुछ सोचना है, करना है, वह इसी लोक में कर लिया जाए, हमारी जैन संस्कृति में अनेक पर्व चलते हैं । पर्युषण-पर्व भी इसी भावना से सम्बद्ध है । इन पर्वों की परम्परा लोकोत्तर पर्व के नाम से चली आती है । इनका आदर्श विराट् होता है । वे लोक-परलोक दोनों को आनन्दित करने वाले होते हैं । उनका संदेश होता है कि तुम सिर्फ इस जीवन के भोग विलास व आनन्द में मग्न होकर अपने को भूलों नहीं, तुम्हारी दृष्टि व्यापक होनी चाहिए, आगे के लिए भी जो कुछ करना है, वह भी यहीं कर लो । तुम्हारे दो हाथ हैं, एक हाथ में इहलोक के आनन्द हैं तो दूसरे हाथ में परलोक के आनन्द रहने चाहिए । ऐसा न हो कि यहाँ पर सिर्फ मौज मजा के त्यौहार मनाते यों ही चलें जाओ और आगे फाका-कशी करनी पड़े । अपने पास जो शक्ति है, सामर्थ्य है उसका उपयोग इस ढंग से

करो कि इस जीवन के आनन्द के साथ परलोक का आनन्द भी नष्ट न हो । उसकी भी व्यवस्था तुम्हारे हाथ में रह सके । जैन पर्वों का यही अन्तरंग है कि वे आदमी को वर्तमान में भटकने नहीं देते, मस्ती में भी उसे होश में रखते हैं और बेचैनी में भी । समय-समय पर उसके लक्ष्य को जो कभी प्रमाद की आँधियों से धूमिल हो जाता है, स्पष्ट करते रहते हैं । उसको दिङ्मूढ़ होने से बचाते रहते हैं, और प्रकाश की किरण बिखेर कर अंधकराच्छिन्न जीवन को आलोकित करते रहते हैं ।

नया साम्राज्य

त्रिपिटक साहित्य में एक कथानक आता है कि भारत में एक ऐसा सम्राट् था, जिसके राज्य की सीमाओं पर भयंकर जंगल थे, जहाँ पर हिंस्र वन्य पशुओं की चीत्कारों और दहाड़ों के आस-पास के क्षेत्र आतंकित रहते । यहाँ एक विचित्र प्रथा यह थी कि राजाओं के शासन की अवधि पाँच वर्ष की होती । शासनावधि की समाप्ति पर बड़े धूम-धाम और समारोह के साथ उस राजा और उसकी रानी को राज्य की सीमा पर अवस्थित उस भयंकर जंगल में छोड़ दिया जाता था, जहाँ जाने पर बस मौत की स्वागत में खड़ी रहती थी । एक राजा को जब गद्दी मिली खूब जय-जयकार मनाए गए, बड़ी धूम-धाम से उसका उत्सव हुआ । किन्तु राजा प्रतिदिन महल के कंगूरों पर से उस जंगल को देखता और पाँच वर्ष की अवधि के समाप्त होते ही आने वाली उस स्थिति को सोच-सोचकर काँप उठता । राजा का खाया पीया जलकर भस्म हो जाता, और वह सुख-सुख कर काँटा होने लग गया ।

एक दिन कोई बूढ़ा दार्शनिक राजा के पास आया और राजा की इस गम्भीर व्यथा का कारण पूछा । जब राजा ने दार्शनिक से अपनी पीड़ा का भेद खोला कि पाँच वर्ष बाद मुझे और मेरी महारानी को किस प्रकार जंगली जानवरों का भक्ष्य बन जाना पड़ेगा, बस यही चिंता मुझे मारती है ।

दार्शनिक ने राजा से कहा—पाँच वर्ष तक तो तेरा अखण्ड साम्राज्य है ? तू चाहे जैसा कर सकता है ?

राजा ने कहा—हाँ, इस अवधि में तो मेरा पूर्ण अधिकार है, मेरा आदेश सभी को मान्य होता है ।

दार्शनिक ने बताया तो फिर अपने अधिकार का उपयोग क्यों नहीं किया जाय ! उन समस्त जंगलों को कटवा कर साफ करवा दो और वहाँ पर नया साम्राज्य स्थापित कर दो, अपने लिए महल बनवालो, जनता के

रहने के लिए भी आवास बनवाकर अभी से उस जंगल को शहर के रूप में आबाद कर दो । जबकि तुम्हें पूर्ण अधिकार है और विधान व परम्परा के अनुस्मरण जब तुम्हें अवधि समाप्त होने पर जंगल में छोड़ा जाए तो हिंस्र पशुओं की गर्जनाओं व आतंक की जगह नागर जनों का मधुर स्वागत, धन व ऐश्वर्य क्रीड़ा करता मिलेगा । राजा को यह बात जच गई और तत्काल आदेश देकर जंगल को साफ करवा दिया, वहाँ पर सुन्दर-सुन्दर भवन, उद्यान आदि से नगर को खूब ही सजा दिया गया । अब राजा बहुत प्रसन्न रहने लगा, अपने उस नगर को देखता तो पुलकित हो उठता । पाँच वर्ष की अवधि सम्पूर्ण हुई । जहाँ अन्य सम्राट अवधि समाप्त होने पर रोते बिलखते थे, वहाँ यह हँस रहा था । विधानानुसार पाँच वर्ष की अवधि समाप्त होने पर राजा अपने ही द्वारा निर्मित उस नए साम्राज्य में जो कभी भयंकर जंगल था जाने लगा तो नगर के हजारों नर-नारी उसके पीछे हो गए । उस नवनिर्मित नगर के आकर्षण व सौन्दर्य के कारण लोग वहाँ जाकर बसने लगे राजा आनन्द से रहने लगा ।

यही बात जीवन की है । इस संसार से परे आगे नरक की भीषण-यातनाएँ, ज्वालाएँ हमें अभी से बेचैन कर रहीं हैं और हम सोचते हैं कि आगे नरक में यह कष्ट देखना पड़ेगा । किन्तु यह नहीं सोचते कि उस नरक को बदल कर स्वर्ग क्यों न बना दिया जाय ! यह सच है कि यहाँ से एक कौड़ी भी हमारे साथ नहीं जाएगी । किन्तु इस जीवन में रहते-रहते तो हम वहाँ का साम्राज्य बना सकते हैं । इस जीवन के तो हम सम्राट हैं, शहंशाह हैं । यह ठीक है कि इस जीवन के बाद मौत की भयंकर घाटी है, नरक आदि की भाषण यंत्रणाएँ हैं, जो जीव को उदरस्थ करने की प्रतीक्षा में रहती हैं, किन्तु यदि मनुष्य अपने इस जीवन की अवधि में दान दे सके, तपस्या कर सके, त्याग, ब्रह्मचर्य, सत्य आदि का पालन कर सके, साधना का जीवन बिता सके, और इस प्रकार पहले से ही आगे की तैयारियाँ करके प्रस्तुत रहे तो इस संसार की यात्रा में, इस जीवन में उसे हाय-हाय करने की आवश्यकता नहीं रहती । यह वर्तमान के साथ भविष्य को भी उज्वल बना सकता है, उसके दोनों जीवन आनन्दमय हो सकते हैं ।

पर्युषण की फल-श्रुति

इस प्रकार जितने भी पर्व, त्यौहार आते हैं, उनका यही संदेश है कि

तुम इस जीवन में आनन्दित रहो और अगले जीवन में भी आनन्दित रहने की तैयारी करो । जिस प्रकार यहाँ पर त्यौहारों की खुशियों में भुजाएँ उछालते हो, उसी प्रकार अगले जीवन में भी तुम उछालते रहो ।

पर्युषण-पर्व लोगों से कहता है आज तुम्हें जीवन का वह साम्राज्य प्राप्त है, जिस साम्राज्य के बल पर तुम दूसरे हजार-हजार साम्राज्य खड़े कर सकते हो । तुम अपने भाग्य के स्वयं विधाता हो, अपने सम्राट् स्वयं हो । तुम्हें अपनी शक्ति का ज्ञान होना चाहिए । मौत के भय से काँपते मत रहो, किन्तु ऐसी साधना करो, ऐसा प्रयत्न करो कि वे भय दूर हो जाएँ और परलोक वह भयंकर जंगल तुम्हारे साम्राज्य का सुन्दर देश बन जाए । पर्व मनाने की यही परम्परा है, पर्युषण की यही फलश्रुति है कि जीवन के प्रति निष्ठाशील, बन कर जीवन को निर्मल बनाओ, इस जीवन में अगले जीवन का प्रबन्ध करो । जब तुम्हें यहाँ की अवधि समाप्त होने पर आगे की ओर प्रस्थान करना पड़े तो रोते बिलखते नहीं, किन्तु हँसते हुए बढ़ो । साधक इस जीवन को भी हँसते हुए जिए और अगले जीवन को चले तो भी हँसते हुए चले—पर्युषण का यह पर्व हम सबको अपना यही संदेश सुना रहा है ।

पर्युषण-पर्व आत्म-साधना का पर्व है । अन्दर के सुप्त ईश्वरत्व को जगाने का पर्व है । मानव शरीर नहीं है, आत्मा है, चैतन्य है, अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड है । लोक-पर्व शरीर के आसपास घूमते हैं, किन्तु लोकोत्तर पर्व आत्मा के मूल केन्द्र तक पहुँचते हैं । पर्युषण-पर्व या शरीर से आत्मा में, और आत्मा से अन्तरहित निज शुद्ध सत्तारूप परमात्मा में पहुँचने का लोकोत्तर पर्व है । पर्युषण-पर्व का संदेश है कि साधक कहीं भी रहे, किसी भी स्थिति में रहे, परन्तु अपने को न बदले, अपने अन्दर के शुद्ध परमात्म-तत्व को न भूले ।



विविध-भारती

अध्यात्म-साधना

समग्र विश्व में दो ही मूलभूत पदार्थ हैं—चैतन्य और जड़ । चैतन्य अनन्त हैं और जड़ भी अनन्त हैं । भगवान महावीर के दर्शन में जड़ और चैतन्य दोनों का अपना-अपना स्वतंत्र अस्तित्व है, स्वतन्त्र स्वरूप है । विश्व की प्रत्येक जड़ या चैतन्य वस्तु अनादि-निधन है, अनादि अनन्त है और वह परस्पर एक दूसरे से भिन्न अपनी मौलिक मर्यादा में ही परिणति होती है । कोई किसी के अधीन नहीं है, सहारे नहीं है । न कभी ऐसा हुआ है और न कभी ऐसा होगा कि किसी के बलात्परिवर्तन के द्वारा अपनी स्वतंत्र एवं अखण्ड सीमा-रेखा से एक अणुमात्र भी इधर-उधर की पराश्रयी स्थिति-गति में बदला जा सके ।

जैन दर्शन के अनुसार निगोद जाति के जीव सर्वाधिक निकृष्ट स्थिति में हैं । सम्पूर्ण विश्व में निगोद जीवों के असंख्य लोक प्रमाण असंख्य शरीर हैं । और तो क्या, एक अंगुल आकाश-क्षेत्र के असंख्यातवें—लघुतम भाग में भी निगोद जीवों के असंख्य शरीर हैं । उक्त असंख्य शरीरों में से प्रत्येक शरीर में अनन्त जीव हैं, जो एक साथ श्वास लेते हैं, एक साथ आहार ग्रहण करते हैं, एक साथ ही जन्म लेते हैं और एक साथ ही मरते हैं । प्रत्येक जीव के अपने-अपने स्वतंत्र असंख्य प्रदेश हैं, प्रत्येक प्रदेश पर अनन्त कर्म-वर्गणा है और प्रत्येक कर्म-वर्गणा में अनन्तानन्त पुद्गल-परमाणु हैं । इस प्रकार अनन्त जीव और अनन्त पुद्गल, अनन्तकाल से एक साथ रहते आ रहे हैं, फिर भी दोनों की परिणति भिन्न-भिन्न है । एक दूसरे से सर्वथा स्वतन्त्र है । यही कारण हैं कि इतने निकट रहते हुए भी न कोई जीव पुद्गल के रूप में परिवर्तित होता है और न कोई पुद्गल ही जीव का रूप ग्रहण करता है । दोनों की अपने जड़ और चैतन्य की मूलभूत सीमा रेखाओं के अन्दर रहकर अपनी-अपनी अविच्छिन्न एवं स्वतंत्र परिणमन-धारा में लक्ष्मण हैं ।

जड़ और चैतन्य का स्वतन्त्र पृथक भाव हो, इतना ही नहीं, अपितु प्रत्येक चैतन्य और प्रत्येक जड़ का भी सर्वतोभावेन पृथक भाव है । निगोद में अनन्त जीव एक साथ रहते हैं, फिर भी प्रत्येक जीवद्रव्य की पर्याय प्रत्येक समय में भिन्न-भिन्न होती है, एक दूसरे के परिणाम परस्पर नहीं मिलते । एक साथ जन्म, जीवन और मरण प्राप्त हुए भी किसी के

शुभ भावरूप परिणमन हैं, तो किसी के अशुभ भावरूप परिणमन हैं । शुभ भाव परिणमन के द्वारा कई जीव निगोद में से मानव-योनि में आते हैं और कई जीव अन्य योनियों में उत्पन्न होते हैं । कई जीव ऐसे भी हैं, जो वहीं—निगोद में ही जन्म-मरण की घटमाल में उलझे रहते हैं । इसी प्रकार पुद्गल द्रव्यों का परिणमन भी भिन्न-भिन्न और स्वतन्त्र है । अनन्तानन्त परमाणुओं के एक पिण्ड-दशा को प्राप्त होते हुए और एक साथ रहते हुए भी प्रत्येक परमाणु का अपना-अपना परिणमन है । कोई भी परमाणु अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को त्याग कर दूसरे परमाणु के रूप में बदल नहीं सकता, त्रिकाल में भी दूसरे के अस्तित्व को अपना अस्तित्व नहीं बना सकता ।

आत्म-भावना

भगवान महावीर के दर्शन में विश्वजगत् की प्रत्येक आत्मा अपने अनादि-निधन द्रव्यरूप से मूलतः शुद्ध है, निरंजन है, निर्विकार है । जो कुछ भी अशुद्धता है, वह पर्याय है, औपचारिक है । मूलभूत नहीं है । मूल-दृष्टि से विचार करने पर निगोद से लेकर सिद्धात्माओं तक सब जीव शुद्ध हैं, एक रस हैं, सम हैं, न्यूनाधिक विकल्पों से परे निर्विकल्प हैं, निर्विभेद हैं । इसी भाव को शुद्ध-नय के चिन्तन-क्षितिज पर प्रकाश-रेखा का रूप देते हुए आचार्य नेमिचन्द्र ने कहा है—“सर्वे सुद्धा हु सुद्धण्या ।” सब जीव शुद्ध नय से शुद्ध ही हैं । यह है, बिना किसी भेद-भाव के विश्व चैतन्य के प्रति परब्रह्म-दर्शन का दर्शन । लोक भाषा में कहें, तो यह हर नर में नारायण की दृष्टि है । इसीलिए महावीर के उत्तराधिकारी प्रत्येक साधक को आत्म-भाव की भावना करनी होती है । ठीक ध्यान में रखिए, भावना करनी होती है, कल्पना नहीं । क्या आत्म-भावना करनी होती है ? यही कि मैं एक अखण्ड ज्ञायक चित् चमत्कार चैतन्य मूर्ति हूँ । किसी भी पराश्रय के बिना मैं एकमात्र, अकेला, निर्द्वन्द्व, स्वावलम्बी, पूर्ण ज्ञान स्वभावी और अनादि अनन्त आत्मा हूँ । आत्मा का अर्थ है—सतत् स्व स्वभाव में गतिशील, ज्ञानशील एवं विवेकशील । सर्वदा और सर्वथा, स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव ही मेरा है । इसके सिवाय जो कुछ भी परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव है, वह अंश मात्र भी मेरा नहीं है । मेरा निजी स्वरूप, आत्मा ही मेरे लिए ध्रुव है, आधार है, आलंबन है, शरण है । मैं ही मेरा हूँ और मेरा ही मैं हूँ । बाह्य दृष्टि से देखने पर ही

परनिमित्त आदि भेद दृष्टिगोचर होते हैं, नानात्व परिलक्षित होता है, परन्तु अभेद दृष्टि में तो अभेद, ज्ञायक स्वरूप, शुद्ध और असंग आत्मा के ही दर्शन होते हैं। आत्मा जितने अंश में स्व को भूलता है, पराश्रय का विकल्प करता है, उतने ही अंश में शुभाशुभ भाव होते हैं; फलतः संसार-भाव होता है। और जितने अंश में आत्म-दृष्टि होती है, स्वाश्रय का लक्ष्य होता है, त्रिकाल में ध्रुव, ज्ञायक भाव में परिणति होती है, उतने ही अंश में निर्विकल्प शुद्ध भाव होते हैं; फलतः मुक्ति-भाव होता है।

इसी प्रकार पराश्रयी भावना से मुक्त एकाश्रयी भावना ही आत्म-भावना है, और यह आत्म-भावना ही निजत्व में जिनत्व की भावना है। यही जैन-साधना का मूलाधार सम्यग् दर्शन है। यह आत्म-भावना अहंकार से रहित शुद्ध अहं का शुद्ध बोध है। जब तक साधक स्वाश्रयी शुद्ध अहं का निर्मल बोध नहीं करता, तब तक वह मिथ्या दृष्टि है। वह त्रिकाल में भी अपने स्वतन्त्र स्वत्व पर, पूर्ण अखण्ड व्यक्तित्व पर भरोसा कर ही नहीं सकता। वह अपने अभ्युदय एवं निःश्रेयस के लिए सदा सर्वदा दीन, हीन कातर दृष्टि से दूसरों के मुँह की ओर ही ताकता है, गिड़गिड़ाता है और भिखारी बनकर दर-दर भटकता है। वह दूसरों के कृपा कटाक्ष में ही अपना उत्थान एवं उद्धार देखता है। यह पराश्रयी दृष्टि अध्यात्म-क्षेत्र में ही नहीं, सामाजिक एवं राष्ट्रीय क्षेत्र में भी अत्यन्त भयावह है। परमुखापेक्षी समाज और राष्ट्र त्रिकाल में भी दासता से मुक्त नहीं हो सकते। यह मानसिक दासता है, जो अन्य सब प्रकार की दासताओं से भयंकर है और पतन का मूल कारण है।

स्वावलम्बन ही उन्नति का मूलमन्त्र है

भगवान महावीर का यह स्वाश्रयी भाव का दर्शन, मानव की सर्वोत्तम मूल शक्ति और आन्तरिक पुरुषार्थ को उद्बुद्ध करता है एवं अपनी ही दृष्टि में दीन-हीन बने हुए मानव को अपने सर्वोत्तम स्वतन्त्र स्वरूप एवं व्यक्तित्व के दर्शन कराता है। भगवान महावीर का सन्देश है—“मानव ! तू अपने आप में विश्व की पूर्ण एवं एक अखण्ड इकाई है।” तुझे एक अंशमात्र शक्ति के लिए भी किसी के द्वार पर याचक बनकर जाने की आवश्यकता नहीं है। तेरा अभ्युदय, अभ्युत्थान या निःश्रेयस किसी की कृपा का फल नहीं है। तेरा वर्तमान और भविष्य तेरे अपने ही हाथों में है। जो स्व है, वही स्वकीय है, अपना मित्र है। जो पर है, वही

परकीय है, वही वस्तुतः पराया है, बेगाना है। मानव ! तू स्वोन्मुख बन, फिर देख, जो तू चाहता है, वह सब कुछ तेरे पास है, तेरे अन्दर है।

“पुरिसा तुममेव तुमं भित्तं किं बहिया भित्तमिच्छसि ।”

भगवान महावीर का यह सन्देश केवल उपदेश ही नहीं है, बल्कि यह उनका स्वानुभूत जीवन-दर्शन है। उन्होंने अपनी अध्यात्म-शक्तियों का सर्वोत्कृष्ट विकास स्वयं अपने पुरुषार्थ के बल पर ही किया था। आवश्यक-चूर्णि में आचार्य जिन दास महत्तर ने भगवान महावीर के जीवन की संक्षिप्त रूप-रेखा प्रदर्शित करते हुए साधन काल के सन्दर्भ में लिखा है कि देवराज शक्रेन्द्र ने एक बार भगवान के चरणों में प्रार्थना की—“भगवान् ! अब आपका साधना-काल उपसर्ग बहुल है, अतः मैं बारह वर्ष के लिए आपकी सेवा में रहना चाहता हूँ।” भगवान ने इसके उत्तर में निर्विकार भाव से अपने अध्यात्म-दर्शन का मूलमन्त्र उपस्थित करते हुए कहा—“शक्र ! अतीत में न कभी ऐसा हुआ है, अनागत में न कभी ऐसा होगा, और वर्तमान में न कभी ऐसा हो सकता है कि कोई भी अरिहन्त किसी भी अन्य देवेन्द्र एवं असुरेन्द्र आदि की सहायता से कैवल्य प्राप्त करे। एक मात्र अपने स्वयं के उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पौरुष और पराक्रम के बल पर ही कैवल्य या मुक्ति का लाभ किया जा सकता है।”

पराश्रयी भाव का इससे बढ़कर और कौन-सा खण्डन हो सकता है ? व्यवहार-क्षेत्र में एक-दूसरे के सहयोग की कड़ी को तोड़ देना, उक्त स्वाश्रयी दर्शन का लक्ष्य नहीं है। व्यवहार यदि व्यवहार के क्षेत्र में ही रहे तो कोई आपत्ति नहीं, पर जब यही व्यवहार निश्चय के क्षेत्र में आ धमकता है, तो साधक मूल दृष्टि को ही भ्रान्त बना देता है और तब व्यवहार नहीं, व्यवहाराभास हो जाता है। दृष्टि में शुद्ध निश्चय का आलोक जगमगाता रहे और स्वयं के स्वत्व एवं व्यक्तित्व की पूर्णता का बोध ओझल न होने पाए, यही स्वाश्रयी-दर्शन का उद्देश्य है। इसी भाव को स्पष्ट करते हुए अध्यात्म द्रष्टा मनीषी ने कहा है—

“निश्चय-दृष्टि चित्त धरी जी, पाले जे व्यवहार ।

पुण्यवंत ते पामशी जी भव-समुद्र नो पार ।”

भगवान महावीर का अध्यात्म-दर्शन जहाँ एक ओर मानव को अपनी दुर्बल भावनाओं पर, स्वयं अपने ही बल पर विजय पाने की प्रेरणा देता

है, अपने मूल व्यक्तित्व के शुद्ध अहं का दर्शन कराता है, पराश्रयी एवं याचक मनोवृत्ति का मूलोच्छेदन करता है; वहाँ दूसरों के प्रति भी सहिष्णु, उदार एवं समबुद्धि बनाए रखने की प्रेरणा जागृत करता है ।

समत्व में ही ब्रह्मत्व के दर्शन

इस विशाल और विराट् विश्व में व्यक्ति, जाति, समाज एवं राष्ट्र में जो द्वन्द्व एवं संघर्ष दृष्टिगोचर हो रहे हैं, इन सबका मूल कारण एक-दूसरे को तुच्छ, हीन एवं नगण्य समझने की मनोवृत्ति है । जब हम दूसरों के व्यक्तित्व को ऊपर से केवल व्यवहार पक्ष से ही देखते हैं तो ऊँच-नीच का वैविध्य दिखाई देता है, अच्छे और बुरे विकल्पों का मायाजाल फैला हुआ प्रतीत होता है । इस स्थिति में पारस्परिक घृणा और वैर-बुद्धि के विषदंश से कैसे बचा जा सकता है ? भगवान महावीर का अध्यात्म-दर्शन ही इस विषमता-मूलक विष-प्रवाह की अमोघ औषधि है । जब हम प्राणिमात्र में शुद्ध चेतना के दर्शन करते हैं, तो सर्वत्र शुद्ध, निर्विकार परब्रह्मभाव का ही साक्षात्कार होता है । जहाँ एकता और समता का निवास है, वहाँ विषमता, घृणा, द्वेष और वैर नहीं पनप सकते । यह भेद और वैषम्य तो औपचारिक है, आत्मा में मूल रूप से उनका कोई अस्तित्व नहीं । जो औपचारिक और आरोपित है, वह शुद्ध सार्वभौम ज्ञान चेतना के शुद्ध परिणमन से दूर किया जा सकता है । जब हम विषमता को मौलिक मानने से इन्कार कर देते हैं, तो विषमता अपने आप मर जाती है । भगवान महावीर का अध्यात्म-दर्शन इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति की शुद्धता और स्वतन्त्रता के मौलिक अधिकार की घोषणा करता है और समस्त चैतन्य जगत में शुद्ध भ्रातृत्व-भाव की, समत्व-भाव की स्थापना करता है ।

क्या हम इस अध्यात्म-दर्शन की मूल चेतना के प्रति लक्ष्य देंगे ? क्या हम अपने शुद्ध अहं का बोध करते हुए विश्व के चैतन्य-जगत में समत्व की स्थापना के प्रति अग्रसर होंगे ?



आत्मा और परमात्मा

मनुष्य एक आत्मा और चैतन्य है, ईश्वर भी एक आत्मा और चैतन्य है; जैन दर्शन का यह स्पष्ट और सुदृढ़ स्वर है । इस सिद्धान्त को जैनाचार्यों ने और वेदान्त के आचार्यों ने भी स्वीकार किया है । उन्होंने कहा है—तुम बाह्य आवरण या विकारों के पर्दे को क्यों देखते हो ? आत्मा तो ज्योतिर्मान् सूर्य है, उस पर कर्मों के बादल छाए हुए हैं । जरा इन बादलों को हट जाने दो, फिर देखो कि उसकी ज्योति निखरती है या नहीं ? उसका चमकता हुआ शुद्ध स्वरूप प्रकट होता है या नहीं ?

आत्मद्रव्य की अपेक्षा से आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं है । संसारी ओर सिद्ध जीवों के रूपों में आत्मा-परमात्मा का जो भेद दृष्टिगोचर होता है, उसका एक मात्र कारण कर्मों का आवरण है । कर्म-पटल से आच्छादित आत्मा संसारी है और अनावृत्त आत्मा ईश्वर है । कर्मों के आवरण का ही अन्तर है, आवरण हट जाने पर आत्मा का एक ही रूप दिखाई देगा ।

सोऽहं का स्वर

वेदान्त के आचार्यों ने कहा है—तुम सोऽहं का जाप करो । यही बात जैनाचार्यों ने भी कही है । हम लोग सोऽहं का जप करते हैं, जिसका अर्थ है—“वह मैं हूँ ।” आचार्य ने बताया है—“वह मैं हूँ ।” इसका भाव यही है—सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और सम्पूर्ण शुद्ध चैतन्य “वह” है तथा आवरण से आच्छादित एक देह में लिपटा हुआ “मैं” दिखाई दे रहा हूँ, किन्तु वस्तुतः उस आवरण को हटा देने पर जो शुद्ध चैतन्य पर्याय है, वही “मैं” हूँ । शुद्ध स्वरूप की दृष्टि से दोनों एक ही हुए । अतः “सोऽहं” का स्वर ध्वनित होता है “वह” दोनों में समान रूप से विद्यमान है । “वह” का अर्थ है चैतन्य । वह चैतन्य न कभी घटता है, न कभी बढ़ता है, न उसकी आदि है और न उसका अन्त ही है । वह पूर्ण चैतन्य एक पामर प्राणी में भी जगमगा रहा है और शुद्ध आत्मा में भी । इसलिए उस चैतन्य को पारिणामिक भाव कहा गया है । द्रव्य दृष्टि से तो समस्त आत्माएँ समान हैं, इसीलिए भगवान महावीर ने कहा है :

‘एगे आया’

आत्मा एक है । अन्तर इतना ही है कि एक ओर विकारों के बादल

छाए हुए हैं और दूसरी ओर अखण्ड चैतन्य का सूर्य पूर्ण रूप से प्रकाशित हो रहा है। आत्मा पर छाए हुए बादल ज्यों-ज्यों हटते जाते हैं, त्यों-त्यों वह प्रकाश निखरता है, विकार कम होते हैं और सद्गुण प्रकट होते हैं। जब आत्मा में सद्गुणों का विकास होता है, तब वह परमात्मा तत्व जागृत हो उठता है। सम्पूर्ण विकार हट जाने पर पूर्ण शुद्ध चैतन्य, ईश्वरत्व जग उठता है, चमक उठता है। इस प्रकार आत्मा के क्रमिक विकास की सीढ़ी है—सद्गुणों का विकास।

गुण का आदर, ईश्वर का आदर है

जब-जब आत्मा में सद्गुण को चमकते देखो, तब-तब उस सद्गुण का सम्मान करो। सद्गुणों के प्रति सम्मान व्यक्त करना, आदर-भाव रखना ही आत्मा का आदर करना है और जो आत्मा का आदर करता है, वही परमात्मा का, ईश्वर का आदर करता है। हम परमात्मा का ध्यान करते हैं, चिन्तन मनन करते हैं ताकि उन सद्गुणों की जागृति हमारी आत्मा में भी हो और शुद्ध स्वरूप का विकास हो। हम किसी देह को नमस्कार नहीं करते, किन्तु देही से, आत्मा से सम्बद्ध सद्गुणों को नमस्कार करते हैं। सद्गुणों के सम्मान का अर्थ है, ईश्वरत्व और परमात्मभाव का सम्मान। यही दृष्टि हमें परमात्मभाव की ओर ले जाती है। यदि हम संप्रदाय, परम्परा, जाति और पंथ के व्यामोह में फँस कर सद्गुणों का आदर करते हैं, तो वह ईश्वरत्व का अनादर है। इसलिए जहाँ भी सद्गुण दिखाई दे रहे हों, वहाँ परमात्म-स्वरूप की ज्योति के दर्शन करने चाहिए।

सद्गुण सर्वव्यापी है

ईश्वर सर्वव्यापी है, यह सिद्धान्त चर्चा का विषय है। एक दृष्टि से तो जैनों ने भी चैतन्य को सर्वव्यापी माना ही है। जहाँ तक मेरा चिन्तन और मनन है और मैंने अपनी दृष्टि से सोचा है, तो मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ-जहाँ आप सद्गुणों को देखते हैं, वहीं ईश्वरत्व को भी देखते हैं। जिस आत्मा में सद्गुणों के दर्शन हुए, उस आत्मा में परमात्म-स्वरूप के भी दर्शन हुए। यहाँ यह नियम नहीं है कि ये सद्गुण ब्राह्मण में ही जगे, शूद्र में नहीं; अमुक में ही जगे और अमुक में नहीं। हम चैतन्य का विकास सब में मानते हैं और सद्गुणों के दर्शन भी सर्वत्र करते हैं। देवता में भी वह ज्योति जगमगा रही है और नरक में भी, पशु-पक्षी में भी उस ज्योति की जगमगाहट दिखाई देती है। विकारों

का विनाश और सद्गुणों का प्रकाश ही तो सम्यग्-दर्शन है । जिसने इसे पहचाना, उसने आत्मा और परमात्मा को भी पहचान लिया और सर्वत्र एक अर्खण्ड ज्योति के दर्शन की क्षमता भी प्राप्त कर ली ।

जब कोई मुझसे पूछता है कि जैनत्व कहाँ है ? मैं कहता हूँ, आप केवल सम्प्रदाय को ही जैनत्व का चिन्ह, जैनत्व का लेबल क्यों मान लेते हैं ? भगवान महावीर ने कहा है—जो विकारों पर विजय प्राप्त करता है, आवरणों को हटा कर ज्ञान की ज्योति जलाता है, अन्तर में प्रसुप्त जिनत्व को जगाता है; वही जैन है । वे जैन पाँच लाख, दस लाख या बीस लाख की संख्या में सीमित नहीं हैं । यदि मुझसे कोई पूछे कि जैन कितने हैं ? तो मैं कहूँगा कि जैन असंख्य हैं । ये मनुष्य रूपधारी जैन तो सिर्फ संख्यात ही हैं, किन्तु वे असंख्य जैन देवयोनि में बैठे हैं, तिर्यञ्च योनि और नरक में बैठे हैं, उनमें भी ज्ञान की ज्योति जल रही है और सम्यग्-दर्शन का प्रकाश फैला हुआ है । जहाँ भी आत्म-ज्योति जल रही है, वहाँ जिनत्व या जैनत्व जगमगा रहा है ।

संप्रदाय, पन्थ और वेषभूषा को आप जैनत्व का रूप मान बैठे हैं, किन्तु वह तो ऊपर का छिलका है, फेंकने की वस्तु है । सन्तरा खाने वाला व्यक्ति जैसे उसका छिलका और बीज फेंककर सिर्फ रस चूसता है, उसी प्रकार प्रत्येक संप्रदाय में कुछ छिलके और बीज होते हैं, उन्हें फेंककर आन्तरिक तत्व, रस को ग्रहण करना चाहिए । बाह्य नाम छिलके की भांति है और भाव, अन्तर तत्व उसका रस है, हमें तो भाव को ही देखना है । आपको यदि बाह्य रूप का, नाम का मोह है, जैन, बौद्ध, हिन्दू, मुसलमान, पारसी, क्रिश्चियन आदि का आग्रह है कि अमुक नाम वाला ही जैन हो सकता है तो मैं कहूँगा कि इस आग्रह को मिटा दीजिए, तोड़ दीजिए । उसके बाद जो भाव प्रकट होगा, वही जिनत्व का देवता होगा और जो चैतन्य स्वरूप की ज्योति जगमगाती दिखाई देगी वही जैनत्व होगा ।

यमलार्जुन को तोड़िए

कृष्णचरित में यमलार्जुन का वर्णन आता है । एक बार कृष्ण ने दो अर्जुन वृक्षों को जुड़ा हुआ देखा । कहते हैं, ये दोनों देव थे, जो किसी शाप के कारण वृक्ष बन गए थे । जब कृष्ण ने उस यमलार्जुन को, दोनों वृक्षों को तोड़ा, तो वृक्ष शाप-मुक्त हो गए और पुनः देव बन गए । हम पुराण की भाषा को छोड़ कर यदि चिन्तन की भाषा में कहें, तो यह यमलार्जुन नाम और रूप है, जो बाह्य चिन्ह या प्रतीक मात्र है ।

जब आत्मा यमलार्जुन को तोड़ देता है, तो देवत्व या जिनत्व की ज्योति जागृत हो उठती है ।

प्रत्येक संप्रदाय और पन्थ आज नाम को ही महत्व देकर परस्पर संघर्ष कर रहे हैं । नाम रूप यमलार्जुन तो जड़ है, कृष्ण बनकर उसे तोड़ना ही होगा, तभी देवत्व-भाव जागृत होगा । मेरे विचार में ईश्वर के सर्वव्यापी होने का यही भाव है कि वह नामरूप में छुपे हुए सद्गुण की भाँति सर्वत्र विद्यमान है । उन सद्गुणों के लिए देश-काल, संप्रदाय या जाति का कोई बन्धन नहीं है । यदि आप सद्गुणों का सम्मान नहीं करते तो ईश्वरत्व का अनादर कर रहे हैं । फिर ईश्वर को सर्वव्यापी मानने का अभिप्राय ही क्या हो सकता है ?

दृष्टि बदलो

आप कहेंगे, हमें तो सब जगह ईश्वरत्व दिखाई नहीं देता, बल्कि सर्वत्र काम, क्रोध, अहंकार और ईर्ष्यादि दृष्टिगोचर हो रहे हैं । इसका अर्थ है, आप में देखने की क्षमता तो है किन्तु देखने का तरीका नहीं है । अपने दृष्टिकोण को बदलो, बुराई के स्थान पर अच्छाइयों के दर्शन करो और दुर्गुणों के बीच में से सद्गुण ढूँढ़ने का प्रयत्न करो ।

पश्चिम और पूर्व के दर्शन में यही मौलिक अन्तर है । पाश्चात्य दर्शन के मतानुसार मनुष्य पहले जानवर था, बन्दर था; विकास करते वह आदमी बना है । अभिप्राय यह है कि वह मूल में पशु है और मूल में रहने वाला पशुत्व ही मुख्य है । सभ्यता और संस्कृति ने आज उसे मनुष्य बना दिया है, किन्तु कभी-कभी उसका पशुत्व जाग उठता है, तब मानव क्रोधी और ईर्ष्यालु बनकर अपने मूल स्वरूप-पशुत्व में चला जाता है । इसका तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्य मूल रूप में विकारों का पुतला है, पशु है ।

भारत का दृष्टिकोण इससे भिन्न है । वह मानता है—मनुष्य मूल में आत्मा अर्थात् परमात्मा है, वह मूल स्वरूप की दृष्टि से ईश्वर है । उसमें जो विकार दृष्टिगोचर हो रहे हैं, वह उसका अपना स्वभाव नहीं है, निजी स्वरूप नहीं है, बाहर से आया हुआ है । जब व्यक्ति विकारों की ओर जाता है, तो अपने स्वरूप से दूर चला जाता है । पुनः जब सँभलता है तो अपने मूल स्वरूप की ओर मुड़ता है । पूर्व और पश्चिम की दृष्टि में यही मूलभेद है । मनुष्य में जब बुराई के दर्शन होते हैं तो पश्चिम कहता है—वह अपने मूल स्वरूप की ओर जा रहा है, उसमें पशुत्व जागृत हो रहा है; और पूर्व कहेगा, वह अपने स्वरूप से हट कर

विकारों में जा रहा है, उसका मूल स्वरूप दुर्गुण में नहीं है, सद्गुण में है । इस प्रकार पश्चिम मूल में पशुत्व देखता और पूर्व देवत्व या ईश्वरत्व के दर्शन करता है । हमारे दर्शन में शुद्धत्व ही मूल है, हम रावण में भी राम के दर्शन करते हैं । रामायण में प्रसंग आता है—जब रावण संसार से विदा होने की तैयारी में है, मृत्यु-शय्या पर पड़ा है, तब राम लक्ष्मण को रावण से राजनीति सीखने के लिए भेजते हैं । जो शत्रु है, जिसने पत्नी को चुराया है और जिसको अभी-अभी युद्ध क्षेत्र में आहत किया है, उसमें भी गुण-दर्शन कितनी बड़ी उदारता है ? इसलिए हमारे यहाँ बार-बार कहा गया है :

शत्रोरपि गुणा वाच्या ।

विषादप्यमृतं ग्राह्यम् ।

अर्थात् शत्रु के भी गुण बताने चाहिए । विष में से भी अमृत ग्रहण करना चाहिए । विद्वान को मधुकर के समान बनकर, फूल के नीचे छुपे हुए काँटे और पत्तियों को छोड़कर रस लेना चाहिए और सर्वत्र ईश्वरत्व के दर्शन करने चाहिए ।

भगवान महावीर के समवशरण में गोशालक आता है, जो उनका शिष्य रहा था; यही उनके सामने अपने आपको तीर्थकर बताता है और उनके ही दो शिष्यों को लेजोलेश्या द्वारा राख बना देता है । इतना ही नहीं, बल्कि स्वयं भगवान को भी दग्ध कर देता है । उस स्थिति में जब उसके लिए चारों ओर क्रोध, घृणा और द्वेष बरस रहे हैं, उसकी निन्दा हो रही है, तब भगवान कहते हैं—तुम इसके वर्तमान एवं बाह्य स्वरूप को ही देख रहे हो, किन्तु इस आत्मा में भी वही शक्ति विद्यमान है, जो मुझमें है । यह भी एक दिन मेरी ही भाँति ईश्वरत्व को जगाएगा । जो ज्योति तुम मुझमें देख रहे हो, वही ज्योति इसमें भी है ।

ये सब विचार हमारे जीवन को नया दर्शन देते हैं, समाज, परिवार और देश के चिन्तन को दृष्टि देते हैं । जब आप बुराई की ओर देखेंगे, तो आपको सर्वत्र घृणा और विद्वेष की लहरें फैलती हुई दिखाई देंगी और जब आप सद्गुणों की ओर उन्मुख होंगे, तो सर्वत्र प्रेम और सौहार्द आपका स्वागत करेगा । जब यह गुणानुराग या गुण-दर्शन की वृत्ति जगेगी, तभी संसार के कंस और जरासन्ध जैसे प्राणियों में कृष्ण के दर्शन होंगे, गोशालक और देवदत्त में भी भगवान महावीर और बुद्ध की आत्मा दिखाई देगी तथा देश के क्षुब्ध वातावरण में भी सौजन्य, शान्ति और आनन्द के अंकुर फूटेंगे ।

३६

धर्म का मूल : विनय

भारतवर्ष की संस्कृति और सभ्यता दुनिया की प्रधान संस्कृति और सभ्यता है । भारतीय संस्कृति में विनय का सर्वोपरि स्थान है । फिर भले ही वह साधु-जीवन हो या गृहस्थ-जीवन । विनय की आधारशिला पर ही जीवन-प्रासाद का निर्माण किया जाता है । कहा भी है—“धम्मस्स विणओ मूलं ।” अर्थात् धर्म का मूल विनय है । मूल में यदि दुर्बलता है, तो शाखा-प्रशाखाओं का विकास कभी सम्भव नहीं । नींव के बिना महल खड़ा करने की कल्पना ही नहीं की जा सकती । जीवन में उच्च आचार और विचार, त्याग-तप, भगवद्-भक्ति एवं तीर्थङ्करों के प्रति गुणानुराग आदि सद्गुण दृष्टिगोचर होते हैं, ये अवश्य ही महत्वपूर्ण हैं, किन्तु विनय से शून्य होने पर ये सद्गुण दुर्गुणों के रूप में भी परिवर्तित हो सकते हैं । विनय से ही इन सद्गुणों में चमक आती है । उच्च आचार और उच्च संकल्प स्वरूप ये सद्गुण महल के सुनहरे कलश हैं, जो महल के सर्वोच्च शिखर पर चमकते रहते हैं । आपके जीवन में भी ये सद्गुण, ये कलश तभी चमकेंगे, जब कि आपके जीवन-प्रासाद के नीचे नींव के प्रस्तर-स्वरूप विनय को स्थान मिला हो । नींव जितनी गहरी और सुदृढ़ होगी, महल उतना ही ऊँचा उठाया जा सकेगा ।

विनय का अर्थ है, नम्रता । जो जितना झुकेगा, वह उतना ही ऊँचा उठेगा । विनय का प्रतिरोधी दुर्गुण है, अभिमान । यदि जीवन में विनय को अपनाना है, तो अभिमान से किनारा करना होगा । विनय हमें सिखाता है कि हम अपने आपको, अपने अभिमान को झुकाएँ । अपने आपको झुकाने का मतलब केवल शरीर झुकाना ही नहीं है, किन्तु अपने आपको, अपनी अन्तरात्मा को झुकाना है । शरीर तो केवल मल-मूत्र का भण्डार है, मांस-पिण्ड है, अस्थियों का ढेर है । यह तो एक प्रतीक है और जब इस प्रतीक को आप अपने माता-पिता और गुरुजनों के प्रति तथा महापुरुषों और सद्गुणी आत्माओं के प्रति झुकाते हैं, तो इसका अर्थ यह है कि आप अपना समस्त जीवन उन महान् आत्माओं को अर्पित कर रहे हैं । मस्तिष्क झुकाने का मतलब है, आप उन सद्गुणों को महत्त्व देते हैं और अपनी सद्भावना प्रकट करते हैं, जो उन विराट् पुरुषों के जीवन में चमक रहे हैं ।

प्रकृति का मूल कारण : विनय

नम्र व्यक्ति ही अपने आपको ऊँचा उठा सकता है, उसकी आत्मा में सद्गुणों का प्रकाश फैल सकता है । जो दूसरों का, अपने आदरणीय-जनों का सम्मान करता है, वह सर्वत्र सम्मान का अधिकारी होगा । वैदिक संस्कृति में आचार्य मनु कहते हैं :

अभिवादन-शीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।

चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम् ॥

जो लोग बड़ों की छत्रछाया में नम्र रहते हैं, संयम और तप-त्याग की राह पर चलने वाले महापुरुषों के पद-चिन्हों का अनुसरण करते हैं, उनका जीवन चमक उठता है । गुरुजनों के प्रति नमस्कार करने वाले व्यक्ति के जीवन में चार वस्तुओं की उपलब्धि और अधिकाधिक वृद्धि होती है । उनकी ये चारों वस्तुएँ विराट् इतिहास में हजारों-हजार वर्ष तक संसार को प्रकाश देती रहती हैं । वे चारों वस्तुएँ कौन-सी हैं ?

‘आयुर्विद्या यशोबलम् ।’

विनयी व्यक्ति का जीवन एक प्रकाश-स्तम्भ की भाँति चमकता रहता है । वह जीवन के क्षेत्र में केशरी सिंह की भाँति गरजता है, वह अन्याय, अत्याचार, घृणा, द्वेष आदि संसार के पापाचारों से संघर्ष करता है । उसकी आवाज जीवन की आवाज होती है, उसका जीवन शानदार जीवन होता है ।

जीवन तो सभी जीते हैं, गन्दी मोरी के कीड़ों के पास भी जिन्दगी है, उन्हें अपनी इस नन्हीं-सी जिन्दगी से प्यार भी बहुत है, जरा-सी चोट लगने पर वे अपनी सारी शक्ति जीवन की सुरक्षा में लगा देते हैं, पर उस जिन्दगी का क्या मूल्य है ? जिन्दगी कौओं के पास भी है, चीलों के पास भी है, गिद्धों के पास भी है और उन्हें अपनी जिन्दगी सर्वाधिक प्रिय है । लेकिन उस जिन्दगी का मूल्य क्या है ? कौआ इधर-उधर जूठन पर घूमता रहता है, चील आसमान में चकर काटती रहती है । मुर्दा-शरीरों पर मंडराती रहती है, गिद्ध भी इसी खोज में घूमते रहते हैं कि कब कौन मरा ? वन में कोई लाश पड़ी हो, तो वहीं सब एकत्रित होकर पहुँच जाते हैं । ऐसी स्थिति में आप विचार करें कि उस जिन्दगी और उसके प्यार का क्या मूल्य है जीवन में ? जिन्दगी तो तिर्यञ्च प्राणियों को भी मिली है, असुर, दैत्य, और राक्षसों को भी मिली है, जो दूसरों

की जिन्दगी से खिलवाड़ करते हैं । दूसरों के खून पर पलते हैं, भला उस जिन्दगी का भी कोई महत्त्व है ? जीवन वह है, जो उन महान आत्माओं ने बिताया है । हाँ, तो आप उनके प्रति अपने मन और मस्तिष्क को झुकाइए । इतिहास और आगम के पृष्ठों पर आप कभी गौतम के दर्शन करते हैं और कभी गज सुकुमार के, कभी गौरी-गान्धारी आदि राजरानियों की झाँकियाँ देख लेते हैं । कितना सुन्दर जीवन है ? कितना स्नेह-पूर्ण जीवन है ? मैं समझता हूँ, उस युग के सामने विश्व का असीम ऐश्वर्य ठुकराया जा सकता है, उन त्याग और वैराग्य से ओत-प्रोत जिन्दगियों के सामने संसार के ऐश्वर्य का कोई मूल्य नहीं । इन महापुरुषों के जीवन में त्याग और तप का स्रोत कहाँ से आया ? एक दिन ये भी किसी महापुरुषों के समीप पहुँचे थे, गद्-गद् भाव से उनकी वाणी श्रवण करने पर इनके रोम-रोम से अमृत की धारा बह निकली, समस्त जीवन अनुपम ऐश्वर्य से चमक उठा और वे हमारे सामने जिन्दगी का एक महान् प्रकाश लेकर खड़े हैं ।

सद्गुणों का स्रोत : विनय

जो विनय के मार्ग पर अग्रसर होते हैं, उनका जीवन अद्भुत और तेजस्वी होता है । जीवन के साथ ही उनका ज्ञान भी चमकता है । एक व्यक्ति अध्ययन करता है, पुस्तकें पढ़ता है, दुनिया भर के तर्क-शास्त्र भी पढ़ लेता है, पर वे यदि निरन्तर गुरुजनों से पढ़े गये हैं, जिन महापुरुषों की वाणी है, उनके प्रति श्रद्धा से मन और मस्तिष्क झुक रहा है, तो वह हृदय और वह ज्ञान जगमगा उठता है । उसका मुख-मण्डल अनुपम आशा से दमकने लगता है ।

भारतवर्ष का एक तरुण युवक घूमता हुआ कहीं जा रहा था । राह में उसे एक ऋषि दिखाई दिए । ज्यों ही उस तरुण ने उन्हें देखा, तो उसने झुक कर अभिवादन किया । महर्षि ने कहा—“सौम्य ! तुम्हारे मुख पर एक अनूठा तेज है, चेहरा ऐसे चमक रहा है, मानो तुमने परम सत्य के, ब्रह्म के दर्शन कर लिए हों । क्या तुमने गुरुजनों से उपलब्ध किया है ? गुरुजनों के द्वारा अध्ययन करने पर ही जीवन में इस प्रकार से विनय चमकता है ।” हमारी संस्कृति का रूप ही विनय से प्रारम्भ होता है और वह विनय में ही जाकर समाप्त हो जाता है ।

विनय का अर्थ है—गुणों का आदर करना, सत्य के प्रति अभिरुचि जागृत करना । अहिंसा, दया, क्षमा, प्रेम आदि सभी सद्गुण विनय के होने पर ही चमकते हैं । विनय के बिना इसका कोई मूल्य नहीं ।

आगम में द्वारिका नगरी का वर्णन आता है । यादव-जाति ने समुद्र तट पर द्वारिका का निर्माण किया और समुद्र के लहरों की थपेड़ों पर खड़ी उस द्वारिका में असीम वैभव का सञ्चय किया । उस द्वारिका का निर्माण किस स्थिति में हुआ ? यादवों के आपस के प्रेम और स्नेह के बल पर ही वह शहर बसाया जा सका । वहाँ छोटे-बड़ों को सम्मान देते थे और बड़े छोटों का आदर करते थे, उनमें अनुशासन का बल था, उन युवकों के मानस में उत्साह की बिजलियाँ चमकती थीं । वे जिधर भी गये, वहीं उनको विजय मिली, उनके साहस और शक्ति के बल पर निर्मित द्वारिका एक दिन संसार के सम्मुख चमकी और हजारों-हजार वर्ष तक चमकती रही । पर उस विराट् द्वारिका के ऐश्वर्य का अन्तिम परिणाम किस रूप में आया ? जब तक यादव युवकों के जीवन में स्नेह; करुणा और त्याग-तप की चमक रही, जब तक उनमें अपनी आन, बान और शान के प्रति मर मिटने की लालसा रही, जब तक वे ऐश्वर्य के पीछे उन्मत्त नहीं हुए, जब तक वे न्याय से राज्य-संचालन करते रहे, तब तक, वह यादव-जाति भारतवर्ष के कोने-कोने में फैली और भारतवर्ष के ऐश्वर्य का केन्द्र द्वारिका नगरी बन गई, किन्तु जब वही यादव-जाति स्वर्ण-प्रासादों की छाया में मानवता को भुला बैठी, भोग-विलास के प्रवाह में बह कर उन्होंने त्याग-तप को ठुकरा दिया, तलवारों से संहार करने पर तुल गये और नैतिक बल को भूल गये तो इनका परिणाम क्या हुआ ? भारतवर्ष की वह सोने की नगरी एक दिन समाप्त हो गई, उसका सारा ऐश्वर्य जाता रहा ।

भारतवर्ष के इतिहास में सोने की दो ही नगरियाँ प्रसिद्ध हैं । एक द्वारिका और दूसरी लंका । दोनों का ही अन्तिम परिणाम आपके सामने है । राक्षस जाति जब तक त्याग के बल पर रही, राक्षस जाति के वीर पुरुष जब तक विश्व-कल्याण के लिए कार्य करते रहे, तभी तक वे सोने की लंका का निर्माण करने में सफल रहे । दुनिया का सारा ऐश्वर्य उनके चरणों में लौटने लगा, पर जब वे उस स्वर्ण के मोह में अपने आपको भूल गये, दुनिया में अन्याय और अत्याचार करने लगे तो उनका अस्तित्व भी लड़खड़ाने लगा, वह सम्पूर्ण वैभव समाप्त हो गया और सोने की लंका मिट्टी

में मिल गई । मैं आपसे पूछूँ कि यादवों को किसने समाप्त किया ? कहने को तो कहते हैं कि द्वैपायन ऋषि ने समाप्त किया, लेकिन वास्तव में देखा जाये तो यादव जाति को उसकी अनैतिकता, अन्याय और अत्याचार ने ही समाप्त किया है । रावण को किसने मारा ? आप कहेंगे राम ने । लेकिन मैं समझता हूँ कि रावण को मारा उसके अन्याय और अत्याचार ने, उनके अनैतिक व्यवहार ने, अन्यथा उसे मारने वाला कोई नहीं था । मानव अपने आपको जीवित रखने वाला भी स्वयं है और मारने वाला भी वह स्वयं ही है । कोई भी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र तभी तक जीवित रह सकता है, जब तक उसमें त्याग का बल है, उसका नैतिक स्तर ऊँचा है और वह सदाचार की राह पर चलता है । जब इनका जीवन भोग-विलास के दल-दल में फँस जाता है । जिन्दगियाँ गुमराह होकर भटक जाती हैं, और वे अपने जीवन की प्रामाणिकता को भूल जाते हैं तो दुनिया उनके नाम तक का बहिष्कार कर देती है, संसार के इतिहास में फिर उसको कोई याद नहीं करता । हजारों और लाखों वर्ष बीत चुके हैं, पर किसी पिता ने अपने पुत्र का नाम रावण नहीं रखा । यद्यपि रावण बहुत प्रतापी राजा था, वह सोने के महलों में रहता था, विमानों में बैठकर सैर करता था, राजा ही नहीं बल्कि देवता भी उसके चरणों की धूलि लेने को लालायित रहते थे और नत-मस्तक होकर सेवा के लिए सदैव तत्पर रहते थे, इन अनन्त शक्तियों का स्वामी होते हुए भी रावण आज इतना उपेक्षित और तिरस्कृत क्यों है ? क्या कारण है इसका ? उसका बाह्य ऐश्वर्य तो अतीव विशाल था किन्तु जीवन का, सद्गुणों का ऐश्वर्य समाप्त हो चुका था; सोने के महल तो खड़े थे, किन्तु सदाचार का महल ध्वस्त हो गया था; समुद्र पर शासन अवश्य था, परन्तु विकारों पर कोई शासन नहीं था; इसी का परिणाम है कि आज कोई भी पिता अपने पुत्र का नाम रावण नहीं रखता । रावण केवल एक ही नाम नहीं; किन्तु दुर्भाग्य की बात है कि इतिहास में उसके परिवार के जितने भी नाम आए हैं, उनमें से किसी का भी नाम नहीं रखा जाता । न किसी ने अपने पुत्र का नाम कुम्भकरण ही रखा है और न किसी ने विभीषण ही । न किसी ने अपनी पुत्री का नाम मन्दोदरी रखा और न किसी ने शूर्पणखा ही रखा । क्या कारण है ?

तो भारतवर्ष की संस्कृति एक बात पर प्रकाश डालती है, यहाँ धन की पूजा नहीं है, ऐश्वर्य की पूजा नहीं है, राजा-महाराजाओं की पूजा नहीं है, किन्तु यहाँ पर हमारे आदर्शों की पूजा है । फिर भले ही वह

गृहस्थ हो या साधु, राजा हो या रंक, यदि सदाचार के नियम पर वह ठीक से चल रहा है, उसका जीवन अपने स्वयं के कल्याण के लिए भी है और दूसरों के कल्याण के लिए भी है तो उसी की भारतवर्ष में पूजा होती है । ऐसे सत्य पुरुष के सामने प्रत्येक का सिर झुकता है और हजारों लाखों वर्षों के बाद भी झुकता ही रहता है । इस दृष्टिकोण से यदि आप सोचें तो मालूम होगा कि हमारा जीवन विनय के रूप में कितना महान है ? भगवान महावीर ने और दूसरे विराट् पुरुषों ने विनय का प्रयोग बड़ों के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिए, उनके उच्च आदर्शों के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के लिए ही किया है ।

विनय से नैतिक बल की वृद्धि

जैसा कि मनु ने कहा है 'आयुर्विद्यायशोबलम् ।' जो जीवन विनय से युक्त है, उसका यश संसार में फैलता है, उसकी प्रसुप्त समस्त शक्तियाँ जागृत हो उठती हैं, उसका नैतिक बल भी विकसित हो जाता है । जिसके पास ये चारों शक्तियाँ हों, उसको किस बात की आवश्यकता रह जाती है ? तो जीवन का मूल विनय है ।

जहाँ विनय नहीं है, वहाँ नैतिक बल का भी अभाव है, जो जीवन का एक विशिष्ट सद्गुण है । ऊपर के विधि-विधान धर्म का शरीर है और नैतिक बल उसकी आत्मा है । आज मन्दिरों में हजारों वर्ष पूर्व की भाँति उसी प्रकार घण्टे बज रहे हैं, पूजा-पाठ और विधि-विधान चल रहे हैं, प्रातः काल मस्जिदों में से बाँग की आवाज सुनाई देती है, धर्म के ऊपर का रूप तो यशावस्थित है, किन्तु नैतिक बल और मानवता की शक्ति का मूल धरातल विलुप्त होता जा रहा है ।

आज व्यक्ति का नैतिक-स्तर गिरता जा रहा है । एक व्यक्ति अपने भोग-विलास के लिए समस्त पूँजी पानी की तरह बहा देता है, पर पड़ोसी के पास यदि पैसा नहीं है, भूख और पीड़ा से वह कराह रहा है तो भी वह उसकी सहायता नहीं करता, अपने द्रव्य का उपयोग गरीबों और पीड़ितों के लिए नहीं करता । फिर यदि वह भगवान का भजन करे, चिन्तन करे, ध्यान करे तो आप ही बतलाइए कि कैसे काम चलेगा ? उसकी आत्मा से नैतिकता तो पहले ही खत्म हो चुकी है ।

लोग कहते हैं, भगवान हमारे हृदय में निवास करे । जहाँ आप भगवान का निवास-स्थान बनाना चाहते हैं, उस हृदय में आपने कभी झाँक कर देखा है ? कितनी गन्दगी भरी पड़ी है आपके मन-मन्दिर में ? कितना काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार भरा हुआ सड़ रहा है और गन्दगी इतनी फैल रही है कि एक आदमी भी आपके पास अच्छी तरह नहीं बैठ सकता । आपके माता-पिता, पत्नी बच्चे जब आपके पास शान्तिपूर्वक बैठे हों तो आपके हृदय में विकारों की आग कैसे धधक उठती है ? आपके पड़ोसी बच्चों के लिए आपके हृदय में कितना स्थान है ? जब आपके हृदय में अपने निकटतम सम्बन्धी जनों के लिए भी स्थान नहीं है, तो फिर भगवान आपके उस हृदय में कैसे निवास करेगा ?

मैं कहता हूँ कि राम और रावण को एक साथ सिंहासन पर नहीं बैठाया जा सकता । सिंहासन पर या तो आप रावण को बैठा लीजिए या राम को बैठा लीजिए । किसी एक को बैठा सकते हैं, राम को या रावण को । या तो अपने हृदय में भगवान को बैठा लीजिए या शैतान को, किन्तु दोनों एक साथ एक ही सिंहासन पर नहीं बैठ सकते । आप चाहे उस सिंहासन पर क्रोध, लोभ आदि विकारों को बैठा लीजिए, रावण या शैतान के रूप में, या फिर उस सिंहासन पर त्याग-तप, संयम, सदाचार आदि सद्गुण स्वरूप भगवान को, राम को बैठा लीजिए । एक ही साथ आप हिंसा और अहिंसा, अभिमान और क्षमा, नरक और स्वर्ग, लोभ और उदारता की पूजा नहीं कर सकते हैं । जीवन में या तो सदाचार की पूजा कीजिए या दुराचार की । जिन्होंने दुराचार की पूजा की है, उनके जीवन का इतिहास और परिणाम भी आपके सामने है और सदाचार की पूजा करने वाले महापुरुषों की जीवन-गाथाओं को भी आप सुन रहे हैं । उन महापुरुषों के साथ आपका जाति और रक्त का सम्बन्ध नहीं है, शरीर का सम्बन्ध नहीं है, पर त्याग-तप और सदाचार का सम्बन्ध है, आत्मा का सम्बन्ध है । इसलिए जहाँ भी आपको सद्गुण दृष्टिगोचर हों, सद्भावना अर्पण करना आपका काम है ।

आज व्यक्ति का जीवन बुराइयों से घिरा हुआ है, उसके जीवन में राग-द्वेष, घृणा, वासना और विकारों का बोलबाला है । वह बारूद के ढेर पर बैठा है, अग्नि जल रही है और बारूद में आग लगाई जा चुकी है फिर भी वह आनन्द विभोर होकर आनन्द और उल्लास गाये जा रहा है तो इससे बढ़कर दीवानापन और क्या होगा ? आज शान्ति के नारे

तो लगाये जा रहे हैं, पर संसार में केवल शान्ति-शान्ति चिल्लाने से कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा । यदि आपके हृदय में से वासना, विकार और दुर्गुण दूर हो जायें और सद्गुण पनपते रहें तभी जीवन का कल्याण और उत्थान होगा । आप जिन महापुरुषों की जीवन-गाथाएँ सुनते हैं, आगम के पृष्ठों पर जिनकी जीवन-झाँकियाँ देखते हैं, यदि उनके जैसी ही पवित्रता आप भी अपने जीवन में अपना सकें, तो आपका जीवन एक महत्त्वपूर्ण आदर्श के रूप में चमक उठेगा ।



समत्व-योग

मनुष्य विश्व का श्रेष्ठतम प्राणी है । भारतवर्ष के ऋषि-महर्षियों ने ही नहीं, बल्कि विश्व के सभी तत्वज्ञानियों ने एक स्वर से मानव जीवन के महात्म्य का वर्णन किया है । उसमें चिन्तन और मनन की शक्ति है, साधक बनने की क्षमता है । असीम सुखों में डूबे रहने वाले देव भी मानव की स्पर्धा नहीं कर सकते । मानव अनन्त शक्ति और तेज का पुञ्ज है ।

जीवन तो पशु-पक्षियों को भी मिला है । हजारों-लाखों कीट मिट्टी में पैदा होते हैं और मिट्टी चाटते-चाटते ही अपनी जीवन-लीला समाप्त कर पुनः मिट्टी में मिल जाते हैं । प्रतिदिन हजारों पशु जन्म ग्रहण करते हैं और उस विकराल काल के गाल में चले जाते हैं । अनेक प्राणी जन्म, जरा और मरण के चक्र में पिस रहे हैं । मानव जीवन भी नश्वर अवश्य है, किन्तु उसके छोटे से जीवन में भी एक चमक है । उसने विवेकपूर्ण और तेजस्वी जीवन के लिए ही तो उसे यह उच्च पद प्राप्त हुआ है ।

पशु-पक्षियों के जन्म पर न तो बधाइयाँ बजती हैं और न उनके मरण पर शोकाश्रु छलकते हैं । पशु अपने जीवन में उत्थान की ओर अग्रसर नहीं हो पाता । उसे तो जैसे-तैसे अपने जीवन के दिन व्यतीत करने हैं । अपने पूर्व संस्कारों के कारण पशु-पक्षी घोंसले बना लेते हैं, माँद खोद लेते हैं, बिल बना लेते हैं, पर वे पशु-जाति के लिए किसी संस्कृति या सभ्यता का निर्माण नहीं कर पाते । अन्तिम घड़ियों तक मरण-वेला तक भी उसके जीवन में कोई अन्तर नहीं आता । पर मनुष्य की स्थिति उससे सर्वथा भिन्न है । वह कदम-कदम पर परिवर्तन और नवीनता चाहता है । वह जिस रूप में जन्म लेता है, उसी स्थिति में सम्पूर्ण जीवन नहीं बिता देता । यदि ऐसा होता तो वह नग्नावस्था में ही अपनी जिन्दगी बिता सकता था, जो स्थिति जन्म के समय थी, अन्त तक वही बनी रहती, किन्तु उसने तो निर्माण करना सीखा है और वह निरन्तर नव-निर्माण में संलग्न रहता है ।

पशुओं का एक सीमित संसार है, वे अपने से अतिरिक्त अन्य की चिन्ता नहीं रखते । उन्हें अपनी भूख-प्यास एवं सुख-दुख की चिन्ता अवश्य होती है, पर अपने से आगे परिवार में, समाज में, राष्ट्र में कहाँ क्या हो रहा है ? इन चिन्ताओं से वे मुक्त हैं । मनुष्य व्यक्तिगत नहीं, समष्टिगत प्राणी है । उसका क्षेत्र बहुत विशाल है । वह अपने निर्माण के साथ-साथ विश्व के निर्माण की भी योजना बनाता रहता है, विश्वोत्थान के लिए अपने मानस-पटल पर नित्य नये चित्र अंकित करता रहता है, नव-निर्माण का स्वप्न देखता रहता है । यदि मानव अपने स्वार्थ के सीमित दायरे में ही जीवन बिता दे और दूसरों के विषय में चिन्ता करना छोड़ दे, परमार्थ-भावना को त्याग दे तो पशुओं से श्रेष्ठ कहलाने का अधिकारी नहीं होगा, उसकी गणना भी पशुओं में ही होगी ।

मानव की महत्ता बताते हुए एक दिन महर्षि व्यास ने अपने शिष्यों से कहा था :

“गुह्यं ब्रह्म तदिमं ब्रवीमि
न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित् ।”

“वत्स ! मैं तुम्हें आज एक रहस्य बता रहा हूँ कि विश्व में मानव से श्रेष्ठ कोई नहीं है । पशुओं को ही लीजिए, वे मनुष्य की भाँति सिर आकाश में और पैर पृथ्वी पर रख कर नहीं चल सकते । प्रकृति ने, उनके संस्कारों ने ही उन्हें ऐसा बना दिया है । कि उनका सिर उन्नत रहने के बजाय सर्वदा नीचे की ओर झुका हुआ रहता है । मनुष्य का मस्तिष्क सदैव उन्नत रहता है । मस्तिष्क हमारे विचारों का केन्द्र है और मस्तिष्क आकाश में रहने का अर्थ है कि हमारे विचार भी आकाश की भाँति निर्मल हैं । सूर्य और चन्द्र ऊपर की ओर हैं, अतः मस्तिष्क पर उनकी किरणें, उनका प्रकाश पड़ रहा है । इसका अर्थ है, हमारे विचार भी सूर्य की भाँति प्रकाशमान हैं, चन्द्र की भाँति सुखद हैं और आकाश की भाँति निर्मल और उन्नत हैं । पैर पृथ्वी पर हैं, इसका अर्थ है कि हमारे पैर कर्म-क्षेत्र में हैं । मनुष्य अपने सुन्दर आचार और विचार से पृथ्वी पर स्वर्ग का निर्माण कर सकता है । कवि की वाणी में कहें तो :

“सन्देश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया ।

इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया ।”

कितनी सुन्दर विचार धारा है ? वह तो इस भूमण्डल को ही स्वर्ग बनाना चाहता है । हजारों वर्षों से हमारे विचारकों की यही वाणी गूँजती

चली आ रही है । हम भी तो उन्हीं महान् मनीषियों की सन्तान हैं, पर उनके सदृश पवित्रता और सुन्दर विचार कहाँ हैं हमारे मानस में ? उच्च विचार और आचार को जीवन में उतारने के लिए दृढ़ मनोबल की आवश्यकता है । कष्टों से घबरा कर जो अपने कर्त्तव्य-पथ से विचलित हो जाता है, वह कभी अपने उद्देश्य में सफल नहीं होता । वास्तव में देखा जाए तो प्रकृति प्रदत्त कष्ट तो बहुत कम हैं । प्रकृति तो कभी सर्दी, गर्मी और वर्षा से ही आपको परेशान करती है, पर आपके सामने जो यह अशांति का वातावरण फैला हुआ है, वह अशान्ति कहाँ से आई है ? कभी इसके उद्गम-स्थान के विषय में भी विचार किया है ? पुत्र कहता है, पिता खराब है; पिता कहता है, पुत्र नालायक और मूर्ख है । सास बहू पर बरसती है और बहू सास पर दोषारोपण करती है । वृद्ध-जन तरुणों को भला-बुरा कहते हैं कि इन्हें अपनी जवानी पर गर्व है तो नौजवान वृद्धों को कोसते हैं । कहते हैं—ये पागल हो गये हैं, इनके विचार पुरातन हैं, अतएव उनका कोई मूल्य नहीं है । शिष्य गुरु की त्रुटियाँ खोजने का प्रयत्न करता है और गुरु शिष्य को अयोग्य, अविनीत और स्वच्छन्द बताता है । एक धर्म के अनुयायी दूसरे धर्म के उपासकों पर कीचड़ के छींटे उछालते हैं, आलोचना करते हैं । मानव अपने ही साथी अन्य मनुष्यों पर व्यंग्य कसता है और मिथ्या दोषारोपण करता है । क्या हमारा जीवन इसी नुकताचीनी में समाप्त कर देने के लिए है ? अज्ञानान्धकार में भटकने के लिए है ? रोटी के एक-एक टुकड़े के लिए लड़ते रहने हेतु हमें यह जीवन नहीं मिला है । जीवन तो उन्नति-शिखर पर पहुँचने के लिए प्राप्त हुआ है । मानव का उद्देश्य उत्थान और कल्याण ही होना चाहिए । इसीलिए हमारे भारतीय ऋषि कहते हैं :

“असतो मां सद्गमय
तमसो मां ज्योतिर्गमय
मृत्योर्मा अमृतं गमय ।”

साधक असत्य से सत्य की ओर जाना चाहता है, अन्धकार से ज्ञान के प्रकाश में आना चाहता है और मृत्यु से अमरत्व की ओर बढ़ना चाहता है । उसे भौतिक सुख और असीम वैभव नहीं चाहिए, ऐश्वर्य को तो वह अपने पुरुषार्थ का खेल समझता है और इसीलिए वह इसे ठुकरा कर चल पड़ता है, अनन्त सुख और शान्ति पाने के लिए ।

वैभव दुःख का मूल है

संसार में इसी वैभव के लिए अनर्थ और पाप होते हैं । इसी धन के लिए प्रतिदिन लूटमार के समाचार सुनाई पड़ते हैं । आज वह हँस रहा था, किसी ने उसका गला घोट दिया । आज सायंकाल के समय कुछ यात्री जा रहे थे, अचानक डाकुओं के गिरोह ने उनकी हत्या कर दी और सामान लूट लिया । उस व्यक्ति के इकलौते लड़के का किसी ने खून कर दिया । मानव-मानव के खून का प्यासा बना घूम रहा है । हाँ, तो इस अशांति का मूल कारण क्या है ? आज मानव के हृदय में दया का अभाव है । वह 'आत्मवत्सर्व भूतेषु' का सिद्धान्त भूल गया है । वह यह नहीं सोचता कि जिस प्रकार मुझे सुख-दुख का अनुभव होता है, उसी प्रकार अन्य प्राणियों को भी होता होगा, मेरी ही भाँति सभी प्राणी सुखाकांक्षी हैं ।

'हाँ, तो मानव वैभव के पीछे पागल बना घूम रहा है । उसे तो धन चाहिए, फिर भले ही वह न्याय के द्वारा आ रहा हो या अन्याय से मिल रहा हो, उसके लिए दूसरों का खून करने में भी वह नहीं हिचकिचाता । ऐसे तो लखपति या करोड़पति बनने की धुन है और यदि वह अमीर भी बन जाये तो इस विराट् विश्व में उसका अस्तित्व ही क्या है ? रावण सोने की लंका का स्वामी था, पर आज उस सोने की लंका का कहीं नाम निशान भी नहीं है । रावण का वह असीम वैभव उसे मृत्यु से नहीं बचा सका । तो वैभव मानव को सुखी नहीं बना सकता ।

आहार शुद्धि पर ही विचार शुद्धि निर्भर है

यदि सुख और शान्ति की कामना है तो रावणत्व को त्याग कर राम बनना होगा । जब तक मनुष्य का आचार-विचार राम जैसा नहीं बनेगा, तब तक वह उन्नति की ओर अग्रसर नहीं हो सकता । अतः विचारों की शुद्धि अत्यावश्यक है । विचारों की पवित्रता ही हमें आदर्श बनायेगी । विचारों के महल पर ही आचार का महल खड़ा किया जा सकेगा । पर विचारों में पवित्रता कैसे आये ? हमारे महर्षियों ने कहा है । आहार-शुद्धौ विचार-शुद्धिः "विचारों की पवित्रता आहार शुद्धि पर ही अवलम्बित है ।" विचार-शुद्धौ आचार शुद्धिः विचार शुद्धि से ही आचार शुद्ध बनता है और "आचार-शुद्धौ सर्व-शुद्धिः ।" यदि आचरण सुन्दर है तो सम्पूर्ण जीवन ही सुन्दर है । तो इस प्रकार मूल में आहार के प्रति पूरा-पूरा ध्यान देने की आवश्यकता है । पर आज के युग में मानव आहार शुद्धि

के प्रति उदासीन और लापरवाह होता जा रहा है । वह मांस का सेवन करता है, पर किस लिए ? इस शरीर का सेर दो सेर मांस बढ़ाने के लिए ही तो वह इस दुष्कर्म की ओर प्रवृत्त होता है । यदि शरीर कुछ सबल भी हो जाये तो उससे क्या होगा । विशालकाय राक्षसों का आज कहीं अता-पता नहीं है, पर मुट्टी भर अस्थि-समूह वाले गाँधी को बच्चा-बच्चा आदर की दृष्टि से देखता है । आप ही विचार कीजिए, आपके वस्त्रों पर जरा-सी खून की बूँद गिर जाये तो उस समय आपकी क्या स्थिति होती है ? यदि एक मच्छर का रुधिर भी आपके वस्त्र पर लग जाये तो आप उसे शीघ्र धोकर साफ कर लेते हैं, क्योंकि आपको खून के धब्बे पसन्द नहीं हैं । जो लोग मांस खाते हैं वे भी अपने वस्त्रों पर लहू नहीं लगने देना चाहते । पर जब मांस के साथ रुधिर भी उनका आहार बनता है और हृदय पर लगता है तब हृदय दूषित होता है या नहीं ? मांस खाने का अर्थ है दया-विहीन कर्म ।

कई लोग मदिरा का सेवन भी करते हैं । जिस मदिरा को वे अमृत समझकर पीते हैं, वही उनके बुद्धिनाश के हेतु बनती है । फलस्वरूप मतिभ्रष्ट होकर, अपनी सुध-बुध खोकर वह अयोग्य और भयंकर कार्य भी करने से नहीं हिचकता ।

मानव-जीवन का यह लक्ष्य नहीं है, वह तो विकास के लिए है और जीवन का विकास तभी होगा, जब आप दूसरों के दुःख को अपना समझें, विश्व मैत्री की भावना रखें । जब 'आत्मवत्सर्व भूतेषु' का सिद्धान्त अपनाया जायेगा तो आपके मन से ये क्रूर भावनाएँ जाती रहेंगी । आपका भोजन भी सात्त्विक होगा, विचार पुनीत होंगे, आचार शुद्ध होगा और जीवन सुन्दर होगा । आप अपने मन में अहिंसा, प्रेम और करुणा का प्रकाश लेकर व्यष्टि से समष्टि की ओर बढ़ेंगे, तभी आत्मा का कल्याण हो सकेगा और जीवन भी सार्थक होगा । तभी आप सही अर्थ में मानव कहलाने के अधिकारी होंगे ।

ॐ

आवश्यकता और तृष्णा

प्रत्येक देहधारी प्राणी की अपनी कुछ आवश्यकताएँ तो होती ही हैं । यदि वह गृहस्थ है, तब भी शरीर-पोषण के लिए उसकी कुछ आवश्यकताएँ हैं और यदि वह मुनि है, तब भी संयम-निर्वाह के लिए उसकी कुछ आवश्यकताएँ हैं । जब तक जीवन है, जब तक यह शरीर है और जब तक इस संसार में हम रहेंगे, तब तक अपने उत्तरदायित्वों की सुरक्षा और आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रयत्न भी करना होगा ।

यदि शरीर को भूख लगती है और वह रोटी माँगता है तो इसमें कोई बुराई नहीं है । समय पर उसे रोटी भी चाहिए, पानी भी चाहिए, और आवश्यकतानुसार वस्त्र भी चाहिए । यह ठीक है कि मुनि-जीवन और गृहस्थ-जीवन की भूमिका के अनुसार इन आवश्यकताओं में भी अन्तर आ जाता है । दोनों की अपनी-अपनी मर्यादाएँ और सीमाएँ हैं । दोनों अपनी-अपनी सीमाओं पर यात्रा प्रारम्भ करते हैं और जीवन की आवश्यकताएँ भी पूरी करते हैं ।

पर आवश्यकताओं की भी एक सीमा होती है । वह चाहे साधु हो या गृहस्थ; मनुष्य की अपनी-अपनी परिस्थितियों और भूमिकाओं के अनुसार आवश्यकता छोटी-बड़ी हो सकती है, किन्तु फिर भी उसके पीछे एक निश्चित सीमा है और उस सीमा के अन्दर ही अन्दर, मर्यादा में रहकर मनुष्य अपनी जीवन-यात्रा तय करता है । पर जब मनुष्य इन्हीं मर्यादा के बन्धनों को तोड़कर बाहर भटकना प्रारम्भ कर देता है । उसकी इच्छाएँ सीमा से बाहर हो जाती हैं, उसके शरीर की एवं परिवार की आवश्यकताएँ आवश्यकता के रूप में न रहकर संग्रह की मनोवृत्ति के रूप में बदल जाती हैं, तो उसे हम लोभ या तृष्णा कहते हैं ।

आवश्यकताओं की पूर्ति और तृष्णा में आकाश-पाताल का अन्तर है । तृष्णा जीवन को पतन की ओर ले जाती है । तृष्णा, लोभ, आसक्ति आदि मानव मन के विकार हैं, जो उसके कल्याण पथ में अवरोधक बन कर आते हैं ।

विकारों से लड़ो

साधक जब साधना-पथ पर अग्रसर होता है, तो उसके जीवन-पथ

में अनेकानेक बाधाएँ उपस्थित होती हैं । इन बाधाओं को दूर करने के लिए वह संघर्ष भी करता है । हाँ, तो साधक अपने जीवन से, प्रयत्न और पुरुषार्थों से संघर्ष करे, अपनी इन्द्रियों से संघर्ष करे, अपने मन से झगड़ता रहे या मन में उद्भूत होने वाले इन्द्रियों के विकारों से संघर्ष करे ?

तो भारतवर्ष के महान् विचारकों ने मानव के सम्मुख एक बहुत बड़ा दार्शनिक सत्य रखा है कि मनुष्य, तुझे अपने इस शरीर से नहीं, किन्तु शरीर के विकारों से लड़ना है; तुझे हृदय से, मन से और जीवन से भी नहीं लड़ना है, पर इनके जो विकार हैं, उनसे तुमल युद्ध करना है । जीवन तो एक पवित्र वस्तु है, ये विकार ही उसे दूषित करते हैं, अतः इन विकारों को ही परास्त करना है । तो हमारी लड़ाई विकारों से है और हमें विकारों को नष्ट करना है ।

इस दृष्टिकोण से जब हम विचार करते हैं, चिन्तन करते हैं तो पता चलता है कि लोभ एक विकार है, तृष्णा और वासना विकार है, और जब हम अपनी आवश्यकताओं की सीमा को लाँघकर निरन्तर इन्हीं विकारों में रचे-पचे रहते हैं तो हमारे लिए कथमपि उचित नहीं होगा । तृष्णा जीवन की आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता की सीमा से हम बहुत आगे बढ़ गये हैं, आवश्यकता की तो एक निश्चित सीमा होती है, पर तृष्णा तो असीम है, अनन्त है ।

सौदेबाजी

धन आवश्यकता-पूर्ति का एक साधन है । उत्पादन के लिए, धनार्जन के लिए योग्य संघर्ष करना और उसके सम्बन्ध में कुछ विचार करना तो गृहस्थ के दृष्टिकोण से ठीक है, किन्तु धन को ही अपना एकमात्र सर्वस्व मानकर, हृदय में अनेकानेक संकल्प और विकल्प लेकर दुनिया भर में चक्कर काटना कहाँ तक न्याय संगत है ? घर के उल्लासपूर्ण वातावरण में भी आपका मन रुपये पैसे में उलझा रहे, वृद्ध माता-पिता की सेवा शुश्रूषा के समय भी आपके मन में रुपयों की चिन्ता बनी रहे और पत्नी के सम्मुख भी आपका ध्यान रुपये में ही केन्द्रीभूत रहे तो समझना चाहिए कि जीवन में विकार आ रहा है । इसी प्रकार जब पुत्र-पुत्रियों की शिक्षा का प्रश्न सामने आये तो वहाँ भी उनके जीवन-निर्माण को धन से तोलना अनुचित है । घर में यदि कोई बीमार है, जब उसकी सेवा

का और स्वास्थ्य का प्रश्न आये तो वहाँ भी रुपये का हिसाब लेकर बैठ जाना ठीक नहीं है । यह जीवन का विकार है, वह धन मनुष्य के मन में विकार के रूप में फैला गया है ।

एक बार एक सज्जन आये । बातचीत के सिलसिले में उन्होंने बताया कि उनकी पत्नी एक लम्बी अवधि से बीमार थी, क्षयरोग उसके शरीर में फैलता जा रहा था । वे सज्जन चिकित्सा हेतु डाक्टर, वैद्यों के पास चक्कर काटते रहे, रोग का उपचार करवाया, किन्तु वह बच नहीं सकी । तो वे कहे लगे कि मरने वाली तो मर गई, पर हमें भी मार गई ।

मैंने कहा—“तुम्हें कैसे मार गई ? तुम तो यहाँ सही सलामत बैठे हो ।”

सज्जन ने उत्तर दिया—“महाराज ! मार तो क्या गई, पर उसकी बीमारी में बहुत भाग-दौड़ करनी पड़ी है । इस भाग-दौड़ में जो हमारी मूल पूँजी थी, वह भी समाप्त हो गई और भविष्य के लिए भी कुछ अर्जन न कर सके । यदि उसे मरना ही था तो पहले ही मर जाती ताकि हमें धन के अभाव में कष्ट तो न उठाना पड़ता । उसको तो मरना ही था पर इस तरह हम तो न मरते ।”

मैंने विचार किया और कहा—“तुम एक पति की दृष्टि से नहीं बोल रहे हो, तुम्हारा दृष्टि-कोण भिन्न है, तुम मानव-जीवन की अपेक्षा धन को प्रधानता दे रहे हो ।”

जीवन में कुछ सीमाएँ होती हैं धन की भी और सुरक्षा की भी । जीवन में कुछ परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं, जहाँ इसका विचार किया जाता है, किन्तु प्रत्येक क्षेत्र में यदि धन को ही सर्वस्व मानकर चलना प्रारम्भ कर दें, तो कहना होगा कि जीवन के प्रति आपका सही दृष्टिकोण नहीं है । आपने कर्म तो किया है, किन्तु उसके आनन्द को, रस को समाप्त कर दिया है । एक ओर तो सेवा सुश्रूषा के लिए पैसा खर्च कर आपने सोने का महल खड़ा किया है और दूसरी ओर इस प्रकार की बातें कहकर उसे भस्म कर दिया है ।

घर में और जीवन में आपने सेवा के रूप में सोने का कल्पवृक्ष खड़ा किया है । यह कल्पवृक्ष आपकी सद्भावनाओं का केन्द्र होता, जीवन में उसका सौन्दर्य, चमक एवं माधुर्य बना रहता, परिवार में तथा अन्य जनों के लिए भी वह महत्वपूर्ण होता, किन्तु ‘मरने वाला तो मर गया,

हमें भी मार गया' कहकर आपने उस कल्पवृक्ष को ही भस्म कर दिया है ।

हाँ, तो हमारे जीवन का सही दृष्टिकोण क्या है ? हर जगह जब सौदेबाजी चलती है तो उसे हम लोभ, तृष्णा या आसक्ति कहते हैं । पर जीवन सौदे की वस्तु नहीं है । सौदा, व्यापार की मनोवृत्ति का अपनी जगह भले ही उपयोग हो, किन्तु जीवन के प्रत्येक क्षेत्र और प्रत्येक कर्म में सौदा नहीं किया जा सकता । यह जीवन की वास्तविकता नहीं होगी ।

स्नेह और सद्भावना की छाया जीवन में अमृत का काम देती है, उसे अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से तोलना उपयुक्त नहीं है ।

धार्मिक क्षेत्र में व्यक्ति थोड़ी बहुत साधना करने के बाद अपनी भक्ति को तोलना प्रारम्भ कर देता है कि आज इसका क्या फल होगा मुझे ? इस प्रकार धर्म और भगवान के साथ भी सौदेबाजी होती है । इसीलिए भगवान से प्रार्थना की जाती है कि हे भगवान् ! मुझे यह देना, वह देना । मनुष्य भौतिक सुख को पाने के लिए जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सौदेबाजी की ही मनोवृत्ति रखता है । जिस राष्ट्र, समाज और परिवार में यह मनोवृत्ति आ जाती है, फिर वह राष्ट्र, समाज और परिवार नहीं पनप सकते । धर्म और परम्पराएँ भी इससे विनाश की ओर अग्रसर होती हैं । सौदेबाजी हमारे विकास को रोकती है, हमारे मस्तिष्क में न किसी का प्रेम छलकता है और न किसी के प्रति सद्भावनाएँ ही सुरक्षित रह सकती हैं । मस्तिष्क के कोने-कोने में आसक्ति प्रविष्ट हो जाती है और वह व्यक्ति प्रतिक्षण द्रव्य-संचय की ताक में ही लगा रहता है । इन्हीं कल्पनाओं में उसका जीवन-रस भी सूख जाता है, ऊपर उठने की शक्ति नष्ट हो जाती है और वह कर्तव्य के क्षेत्र में शुद्ध भाव से आगे नहीं बढ़ सकता ।

अनासक्त भावना

भगवान महावीर तथा सभी तत्त्व चिन्तकों ने मानव-मन की कमजोरी का विश्लेषण करते हुए बताया है कि जब तक साधक के मन में सकाम भावनाएँ हैं और निष्काम मनोवृत्ति को नहीं अपनाता, शुद्ध कर्तव्य को समझ कर आदर्श की ओर प्रवृत्त नहीं होता, तब तक उसका जीवन चमक नहीं सकता । गीता में भी श्रीकृष्ण ने निष्काम भावना के लिए कहा है :

“कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।”

इसकी व्याख्याएँ विभिन्न रूप से की जा सकती हैं, पर मैं समझता हूँ कि शास्त्र तो एक स्रोत है और प्रत्येक व्यक्ति अपनी विचारधारा के अनुसार भिन्न व्याख्या करता है। फिर भी अनासक्ति जीवन का मूल केन्द्र है। जब हमारा मन फल में अटक जाता है तो कर्म का उत्साह, आनन्द का निर्झर सूख जाता है और हम केवल फल की कल्पनाओं में ही खो जाते हैं, तब फल ही मुख्य बन जाता है और कर्म गौण मानस में। फल के प्रति आसक्ति हो तो, वह व्यक्ति झूठ बोल कर धोखा देकर, परिवार और समाज में द्वन्द्व और दुर्भावनाएँ फैलाकर अन्याय से भी फल प्राप्त करना चाहता है।

आप भगवान महावीर के समय का इतिहास पढ़ते हैं तो राजा श्रेणिक और अजातशत्रु की कहानी सामने आती है। राजा श्रेणिक सोने के सिंहासन और साम्राज्य सुखों का उपभोग करने के बाद जीवन के मध्यान्ह से भी आगे बढ़ जाता है, वृद्धावस्था में ऐश्वर्य और सत्ता को नहीं छोड़ पाता तो अजातशत्रु का मस्तिष्क संकल्प-विकल्प से भर जाता है। उसके मस्तिष्क से पिता हट जाते हैं और सोने का सिंहासन चमकने लगता है। वह सोचता है कि पिताजी तो वृद्ध हैं और अब कब तक जीवित रहेंगे? सिंहासन के लोभ ने उसके मानस को विकृत बना दिया।

सिंहासन तो प्रजा की रक्षा के लिए है, पर अजातशत्रु के मन में यह भाव नहीं रहा कि वह जनता के सुख-दुःख का साथी बन कर रहे। यह भाव रहता तो वह सिंहासन पर बैठने के लिए लालायित नहीं होता। वह सोचता कि न्यायानुसार पिता के बाद सिंहासन तो मुझे अवश्य मिलेगा। यदि वह जवानी में मिले तब भी ठीक है और कुछ वर्षों बाद मिले तब भी कोई बात नहीं। जब भी मुझे सेवा का अवसर मिलेगा, तभी अपना कर्तव्य शुद्ध रूप से पालन करूँगा। वास्तव में देखा जाये तो यह सोने का सिंहासन नहीं, बल्कि शूली है, काँटों का सिंहासन है। जरा-सी भी भूल हुई कि शूली की नोक और तीक्ष्ण काँटे जीवन को बेध देते हैं, विकास रोक देते हैं। पर अजातशत्रु पर तो लोभ का भूत सवार था और इसीलिए एक दिन पिता को अपने मार्ग में बाधक समझकर वह उन्हें बन्दी बना लेता है और स्वयं सोने के सिंहासन पर बैठ जाता है।

विचार करने पर पता चलता है कि यह जीवन की आसक्ति ही तो है। आसक्ति को ही उद्देश्य बनाकर चलने वाला व्यक्ति न्याय और अन्याय की बात नहीं सोचता। अच्छे-बुरे कर्मों की ओर उसका

ध्यान नहीं जाता । वह अपने उत्तरदायित्व को, कर्त्तव्य को भी भूल जाता है । आसक्ति के प्रवाह में बह कर वह प्रतिभा और बुद्धि का भी उपयोग नहीं करता । हाँ, तो आसक्ति द्वारा हम जीवन के सही लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकते । निष्काम कर्म ही हमारे मानव में कर्त्तव्य के प्रति सजगता की भावना जागृत करता है । आसक्ति ऊपर उठाने वाली नहीं, अपितु नीचे गिराने वाली है । उत्थान का मार्ग अनासक्त-भावना ही है ।

जब मनुष्य अपने कर्त्तव्य को समझेगा और अपने को इस संसार-रथ का एक छोटा-सा यंत्र मान कर ठीक ढंग से कार्य करेगा तो वह इस विराट् संसार-रथ को चलाने में सहायक सिद्ध होगा । यदि वह अपने कर्त्तव्य को भली-भाँति न समझे तो जीवन में गड़बड़ पैदा हो जायेगी । अतः मानव जब अपने आपको संसार का एक महत्त्वपूर्ण पुर्जा समझकर अनासक्त-भावना से काम करता है, तभी वह जीवन के सही लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल हो सकता है ।

सही दृष्टिकोण

एक आचार्य ने मानव-जीवन का विश्लेषण करते हुए अलग-अलग भूमिकाएँ बांधी हैं । संसार में कुछ मनुष्य बुराइयों से बच कर चलते हैं, पर उनका वास्तविक दृष्टिकोण क्या है ? वे बुराइयों से दूर भागने का प्रयत्न क्यों करते हैं ? उन्होंने बहुत सुन्दर ढंग से अपने विचार व्यक्त किए हैं ।

कल्पना कीजिए कि एक व्यक्ति की आर्थिक स्थिति कमजोर है, वह दरिद्रता की चक्की में पिस रहा है । दूसरा व्यक्ति उससे पूछता है कि क्यों भाई, क्या बात है ? तुम इतने कमजोर क्यों दीखते हो ?

वह कहता है—“क्या करूँ ? अर्थाभाव के कारण कष्ट सहने पड़ते हैं । पास में एक पैसा भी नहीं है, अपने परिवार का भरण-पोषण कैसे करूँ ? इस समय तो जहर खाने के लिए भी पैसा नहीं है ।”

पहले ने कहा—“इतने चिन्तित क्यों ? इस संसार में, न्याय-नीति और धर्म में क्या रखा है ? इसका मूल्य ही क्या है, जब हम भूखों मर रहे हों । संसार में तुम चोर-बाजारी, गुंडागिरी और मक्कारी करके संसार के भोग-विलास प्राप्त कर सकते हो । इस गरीबी से छुटकारा पा सकते हो, आराम से रह सकते हो । न्याय-नीति से आजीविका चलनी दूभर

हो जाती है । साधना के मार्ग पर अपनी जिन्दगी क्यों बरबाद कर रहे हो ?”

दूसरे ने उत्तर दिया—“भाई, मेरे मन में भी कभी-कभी विचार उठता है कि मैं भी चोरी, मक्कारी और अन्याय से पैसा कमा लूँ । पर सोचता हूँ कि कहीं चोरी करते हुए पकड़ा गया तो जेल की हवा खानी पड़ेगी, प्रतिष्ठा से हाथ धोना होगा और पता नहीं कितने कष्ट सहने होंगे ।”

हाँ, तो इस व्यक्ति को राज-दण्ड का, सत्ता का, कारागृह का भय है और इसीलिए वह पाप से बचता है । यह भी एक जीवन है, जो बुराई से बचकर चल रहा है, इधर-उधर बिखरे हुए विकारों के काँटों से अपने कदम बचाते हुए चल रहा है, पर उस व्यक्ति में प्राण नहीं हैं, जीवन की ज्योति नहीं है, अलौकिक प्रकाश नहीं है । वह तो केवल दण्ड के भय से दुष्कर्मों की ओर प्रवृत्त नहीं हो रहा है, तो यह पशु-वृत्ति है । उसके पास मानव की मनोभावनाएँ नहीं हैं, क्योंकि दण्ड से तो पशु हँकें जाते हैं । जब तक सिर पर डण्डा तना हुआ है, तब तक वह चुपचाप सिर झुकाये चलता रहता है, पर जब देखता है कि दण्ड वाला नहीं है तो पशु दौड़ कर इधर-उधर के खेतों में घुस जाता है । हाँ तो दण्ड पशु के लिए है, मनुष्य के लिए नहीं । जो आदमी मानव होकर भी दण्ड के भय से चल रहा है, पाप से बचकर चल रहा है तो वह मनुष्य की आकृति में पशु है, उसका मन पशु-वृत्ति से ऊपर नहीं उठ पाया है ।

एक अन्य व्यक्ति से जब यह प्रश्न पूछा जाता है—“भाई, तुम चोरी क्यों नहीं करते ? अपनी इस कष्ट पूर्ण स्थिति से मुक्ति पाने के लिए अन्याय का आश्रय क्यों नहीं लेते ?”

वह कहता है—“बात तो ठीक है, कर भी लें, पर समाज का भी तो डर है । किसी को मालूम हो गया तो कोई क्या कहेगा ।”

इस व्यक्ति पर राजदण्ड शासन नहीं करता, वह तो समाज से डरता है । समाज, परिवार, मित्र-सम्बन्धी जनों का उसकी दृष्टि में मूल्य अवश्य है । कई व्यक्ति ऐसे होते हैं, जिन पर राजदण्ड शासन नहीं करता पर वे समाज की परवाह करते हैं । उनके जीवन में प्रकाश की एक क्षीण-रेखा चमक रही है ।

पहले व्यक्ति की अपेक्षा यह जीवन विकसित तो अवश्य है, मानव अपने लक्ष्य की ओर जा रहा है, वह पशुत्व से ऊपर उठ गया है, फिर भी भय अवश्य है, उसके जीवन में । और जीवन का विकास यहीं समाप्त नहीं हो जाता, वह और भी आगे बढ़ने के लिए है ।

जब तीसरे व्यक्ति से पूछा गया कि कहो, क्या बात है ? ऐसे मरे-मरे से क्यों रहते हो ? क्यों नहीं चोरी, अनीति कर लेते ताकि जीवन ठीक तरह चल सके और भली प्रकार खा-पी सको ।

उसने कहा—“वाह भाई ! तुमने खूब कही ! मैं ये बुरे कर्म कैसे कर सकता हूँ ? यहाँ तो कोई डर नहीं है, पर परलोक में तो इन्का फल भोगना होगा, इन बुरे कर्मों की बदौलत नरक में सड़ना होगा ।”

यह जीवन पूर्वापेक्षा विकसित कहा जायेगा पर यह सर्वथा विकसित रूप नहीं है । यहाँ परलोक का भय है और यदि उसके-मन से स्वर्ग-नरक की भावना निकल जाये तो वह पाप कर सकता है ।

यही प्रश्न जब चौथे व्यक्ति से पूछा गया तो वह उत्तर देता है—“अन्याय, चोरी, मक्कारी आदि करने के लिए मेरा मन ही प्रेरणा नहीं देता । मैं इन कामों को उचित नहीं समझता ।”

वह व्यक्ति संसार के भय और प्रलोभनों से परे हैं । स्वर्ग का वैभव और नरक का दुःख इस पर अपना प्रभाव नहीं डालता । इस लोक और परलोक का भय नहीं है, उसके मन में । इसीलिए भगवान महावीर ने कहा है—

“इहलोगे संसण्णओगे, परलोगे संसण्णओगे ।”

इस जीवन की भी आसक्ति छोड़ दो और अगले जीवन की भी आसक्ति त्याग दो । यह मत सोचो कि यहाँ पर कुछ दान करने के बदले परलोक में असीम ऐश्वर्य प्राप्त होगा । इस प्रकारे सोचना तो साधना के अमूल्य हीरे को संसार के जड़ भोग-विलासों से बदलने की तैयारी करना है । जीवन निर्माण का यह सही तरीका नहीं है ।

जीवन-मरण का खेल

जीवन के आदर्शों और कर्त्तव्यों को संसार के प्रलोभनों से तोड़ना उचित नहीं है । आसक्ति चाहे वर्तमान के लिए हो या भविष्य के लिए, हर स्थिति में वह हानिकारक है । इसीलिए भगवान ने कहा है—

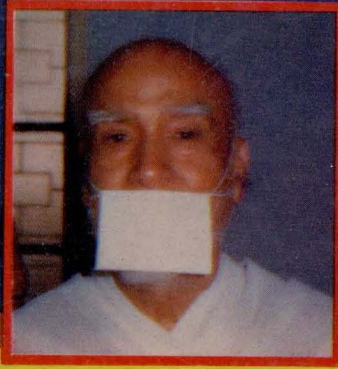
“न जीविया संसण्णओगे, न मरणासंसण्णओगे ।”

जीवन और मौत की आसक्ति को भी तोड़ दो । न तो जीवन ही महत्त्वपूर्ण है और न मृत्यु का ही कोई महत्त्व है । जीवित रहना है तो कर्त्तव्य के लिए और मरना है तो भी कर्त्तव्य के लिए । इन दोनों के नीचे कर्त्तव्य की पृष्ठभूमि है । यदि आप मानवता की रक्षा करते हुए, परम-तत्त्व की शोध में सत्कर्म करते हुए जीवन व्यतीत कर रहे हैं तो आपको जीने का अधिकार है, पर यदि अपने आदर्शों की हत्या करके जी रहे हैं तो वह जीवन भी एक बोझ है । ऐसे जीवन की आसक्ति का कोई मूल्य नहीं । आदर्शों की रक्षा के लिए जीवित रहो और यदि उन आदर्शों के लिए मृत्यु को भी वरण करना पड़े, तो प्रसन्न-मुख से उसे स्वीकार करो ।

जीवन की बात आए तो मन प्रसन्नता से खिल उठे और मृत्यु की बात सुनकर चेहरा मुरझा जाये, यह हमारा दृष्टिकोण नहीं होना चाहिए । यह जीवन-मरण तो खेल है । जब तक यह शरीर है, मृत्यु अवश्यम्भावी है, फिर डरना किससे ? जिन्दा रहना आत्मा का धर्म है और मृत्यु शरीर का धर्म है । इससे तुम्हारे मन में कोई क्षोभ नहीं आना चाहिए ।

जीवन का सही दृष्टिकोण यही है । जब लोभ और आसक्ति दूटती है, तभी मनुष्य के जीवन का निर्माण होता है ।





परम पूज्य गुरुदेव अमर मुनि जी की अमर-वाणी, आज समाज में प्रसिद्ध ही नहीं, अत्यन्त लोक प्रिय भी है। प्रस्तुत पुस्तक में उनके पर्युषण पर्व पर दिए गए अमर प्रवचनों का संकलन एवं सम्पादन किया गया है। समाज में सर्वत्र इस का स्वागत किया गया है।

सम्पादक : विजय मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न

स्व० श्री रतन लाल जी चपलावत एवं स्व० श्रीमती लाड़ बाई जी चपलावत की पुण्य स्मृति में उनके सुपुत्र श्री विशन कुमार जी तथा पुत्रवधू श्रीमती सरला चपलावत ने पर्युषण-प्रवचन पुस्तक का सहर्ष प्रकाशन कराया।

गुरुवार 5-5-94

सिद्धार्थ भवन
तोता का ताल, आगरा